"गद्य-मंजरी"

शारदा मं

गद्य-मंजरी

[आधुनिक गद्य-लेखकों की चुनी हुई साहित्यिक रचनाओं का संग्रह]



—०—

इंटर-मीडिएट कक्षा के लिए

—०—

संकलनकर्ता

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

प्राध्यापक, काशी-विश्वविद्यालय

प्रकाशक

सरस्वती-मन्दिर

बनारस सिटी

प्रकाशक

सरस्वती-मन्दिर

बनारस

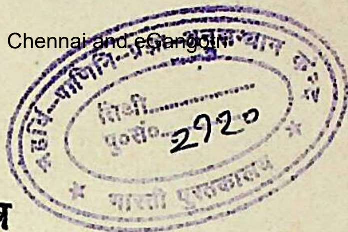
तृतीयावृत्ति १९५०

मूल्य २।)

मुद्रक

इ० मा० सप्रे

श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस



निवेदन-पत्र

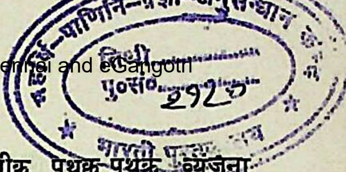
शुद्ध साहित्य में दो प्रकार की लेखन-शैलियाँ व्यवहृत होती हैं; एक पद्य की और दूसरी गद्य की। पद्य में कविता लिखी जाती है और साहित्य की अन्य शाखाओं के लिए गद्य का व्यवहार होता है। गद्य का व्यवहार इतना बढ़ गया है कि जहाँ पहले साहित्येतर वाङ्मय पद्य में प्रस्तुत होता था, अब गद्य ही में निर्मित होता है। अतः कविता को छोड़कर साहित्य के अन्य विभागों का संबंध गद्य से ही विशेष रह गया है। नाटक से भी पद्यांश बहुत कुछ हट चुका है, उसमें प्रायः ऊपर से चिपकाए हुए कुछ गीत ही पाए जाते हैं। अतः गद्य में अब व्यक्त होनेवाला शुद्ध साहित्य का वाङ्मय इस प्रकार है—नाटक, उपन्यास, कहानी, काव्यात्मक गद्यखंड या गद्यकाव्य, निबंध और समालोचना। गद्य के विधान के विचार से उपन्यास और कहानी में कोई अंतर नहीं है। अतः गद्यांशों के संग्रह के लिए नाटक, कहानी, गद्यकाव्य, निबंध और समालोचना ये पाँच विभाग हो रह जाते हैं। इस संग्रह में इन्हीं पाँच विभागों की कृतियाँ संगृहीत हैं।

नाटक या रूपक में संवाद का वैशिष्ट्य मुख्य है। संवाद वे ही अच्छे माने जाते हैं जो पूर्वापर की अपेक्षा कम रखते हों, या रखते ही न हों। घटनावली के संविधान में ही संलग्न रहने के कारण अच्छे नाटकों में ही ऐसा सुयोग पाया जाता है अथवा अभिनेय नाटकों की अपेक्षा पाठ्य नाटकों में ऐसी व्यवस्था प्रायः देखी जाती है, क्योंकि उनमें संवाद के वैशिष्ट्य पर भी ध्यान न रखने से रूपकत्व को हानि पहुँचने लगती है। अध्यवसित रूपक (अलगारिकल ड्रामा) प्रायः पाठ्य ही हुआ करते हैं। यों तो दृश्यकाव्य मात्र पाठ्य या श्रव्य हो

सकते हैं, पर जिनमें संवाद की योजना के ही विचार से की गई हो, अभिनय-कौशल के विचार से नहीं, उन्हें पाठ्य की श्रेणी में ही रखना चाहिए और पाठ्य-ग्रन्थ के लिए ऐसे ही पाठ्य रूपकों से गद्यांश लेना सुसंगत बात मानी जानी चाहिए। अस्तु, प्रसादजी के 'एक घूँट' से एक वृहत् संवाद उद्धृत किया गया है।

जीवन की एक झलक दिखानेवाली कहानियाँ भी कई प्रकार की होती हैं। इनमें दृष्टि अधिकतर घटनाचक्र पर ही रहती है। हिंदी में कुछ कहानियाँ ऐसी भी देखी गई हैं जिनमें घटना कुछ नहीं या सामान्य है; विशेष दृष्टि चरित्र-चित्रण पर है। जिस कहानी का उद्देश्य केवल चरित्र-चित्रण हो, उसमें लेखक को निरपेक्ष होकर पात्रों को ही सामने खड़ा करना पड़ेगा। पात्र रूपकात्मक पद्धति से शील को व्यक्त करते हुए अधिकतर वाग्वैभव का प्रदर्शन करेंगे। गद्य या भाषा के के विचार से यह वाग्वैभव बड़े महत्त्व का हो जाता है। प्रेमचंदजी की 'बड़े भाई साहब' नामक कहानी में इसी विभूति के खुले दर्शन होते हैं। रचना-शैली के विचार से ध्यान देने योग्य दूसरी कहानियाँ वे हैं जिनमें दृश्यों का वर्णन परिष्कृत शब्दावली में और विषय का प्रतिपादन अलंकृत पद्धति से किया गया हो। भाषा या गद्य के इसी वैशिष्ट्य के कारण 'शांति-निकेतन' नाम की कहानी रखी गई है।

काव्यात्मक गद्यखंड या गद्यकाव्य अधिकतर भावात्मक शैली में लिखे जाते हैं। इस शैली में दो रूप स्पष्ट लक्षित होते हैं। एक में तो यह शैली आद्यंत चलती रहती है और दूसरे में उसका भावात्मक रूप यहाँ-वहाँ दिखाई पड़ता है। पहले को धारा रूप और दूसरे को तरंग रूप मानना चाहिए। शैली ही नहीं, विषय के विचार से भी, भिन्नता दिखाई देती है। कहीं तो कोई व्यंजक जीवन-खंड सामने ला दिया जाता है और कहीं किसी विशेष व्यंजना के लिए कोई जीवन-खंड चुना जाता है। राय कृष्णदास और वियोगी हरि के गद्यकाव्यों के



प्रतीकों में यही अंतर है। राय साहब के प्रतीक पृथक् पृथक् व्यंजना करते हैं, सभी प्रतीकों में एकरसता नहीं है, अतः अनेकता का सच्चा आभास मिलता है; दूसरी ओर वियोगी हरि के प्रतीक एक ही लक्ष्य को लेकर चलते हैं। वहाँ अनेकता का अभाव है तो एकत्व की अभिव्यक्ति के मार्गों में अनेकता है; सभी मार्ग वहीं पहुँचते हैं, पर उनके आकार, विस्तार आदि में भेद है।

निबंध भी कई प्रकार के होते हैं। विषय और व्यक्तित्व के विचार से प्रबंध को निबंध से भिन्न मानना चाहिए। 'प्रबंध' शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ के अनुसार विषय-प्रधान बंध, जिसमें आकार का प्रकर्ष भी हो, प्रबंध कहा जाना चाहिए। पर निबंध में विषय नहीं व्यक्तित्व प्रधान रहता है और आकार का संकोच भी होता है। पहला बंध शिथिल है और दूसरा कसा। प्रबंध की विशेषताएँ 'हमारे साहित्योदय की प्राचीन कथा' में मिलेंगी और निबंध की विशेषताएँ 'उत्साह' आदि में। प्रकार-भेद से निबंध वर्णनात्मक, विचारात्मक, भावात्मक और कथात्मक होता है। वर्णनात्मक निबंध में लेखक की दृष्टि अधिकतर वर्ण्य विषय का अधिकाधिक और पूर्ण वर्णन देने की ओर रहती है। दृश्य कहीं स्फुट और कहीं मिश्र रूप में सामने लाए जाते हैं। प्रकृति, ग्राम, नगर आदि के वर्णन इसी श्रेणी में रखे जायँगे। कोई शुद्ध रूप में होगा, कोई अलंकृत रूप में। 'श्यामापुर' में वर्णनात्मक निबंध की अधिकतर विशेषताएँ मिलेंगी। समाहार की अच्छी शक्ति और निरीक्षण की सच्ची परख उसमें दिखाई देती है।

विचारात्मक निबंधों में लेखक अनेक प्रकार के तर्कों एवं दृष्टांतों से प्रतिपाद्य सिद्धांत का निरूपण करता है। साहित्य की कोटि में वे ही निबंध माने जाने चाहिएँ जिनमें बुद्धि के व्यापार के साथ-साथ हृदय के राग का भी योग हो। इस प्रकार के उत्कृष्ट निबंध आचार्य रामचंद्रजी शुक्ल ने पर्याप्त परिमाण में प्रस्तुत किए हैं। ऐसे निबंधों में दो पद्धतियाँ

देखी जाती हैं—एक निगमन की और दूसरी आगमन की। पहली में दृष्टांतों और प्रमाणों से होता हुआ लेखक सिद्धांत पर पहुँचता है और दूसरी में सिद्धांत के स्पष्टीकरण के लिए उदाहरणों के संकलन पर दृष्टि रहती है। शुक्लजी के निबंध दूसरी पद्धति पर लिखे गए हैं। निबंधों में सबसे ध्यान देने योग्य होती है 'व्याप्ति'। शुक्लजी जैसी व्याप्ति बनाते हैं उसके भीतर छितराया हुआ विषय सिमट आता है और फालतू आवरण पृथक् पड़ा रह जाता है।

भावात्मक निबंधों में उक्तियों का विधान मुख्य होता है। किसी भाव के अनुकूल उक्तियों की अधिकाधिक योजना कर सकने में जो लेखक समर्थ होगा उसके ऐसे निबंध विशेष उपयुक्त और हृदय-ग्राह्य होंगे। इनमें भी दो प्रकार दिखाई देते हैं; एक वे जिनमें भावानुकूल उक्तियों पर दृष्टि रहती है और दूसरे वे जिनमें कोई वर्ण्य वस्तु भावुकता के साथ सामने रखी जाती है। शास्त्रीय ढंग से विचार करने पर एक में भाव-व्यंजना पर दृष्टि रहती है और दूसरे में वस्तु-व्यंजना पर। 'अनुस्मृति' पहले प्रकार की रचना है और 'फतहपुर सीकरी' दूसरे प्रकार की।

कथात्मक निबंध वे कहे जायँगे जिनमें कथा की घटनाओं की अपेक्षा रचना-शैली के वैचित्र्य पर विशेष दृष्टि रहे। इतिहास, कहानी आदि से ये पृथक् होते हैं। इतिहास में घटनाओं का संकलन मात्र रहता है; वहाँ बहिरंग पर दृष्टि रहती है, अंतरंग पर नहीं। कहानी में घटनाओं का संकलन किसी विशेष परिणाम की ओर उन्मुख होता है; अंतरंग पर दृष्टि रहती है, बहिरंग पर उतनी नहीं। पर कथात्मक निबंध में कथा केवल आधार के लिए गृहीत होती है; रचना-वैचित्र्य पर ही विशेष दृष्टि रहने से उसे कहानी नहीं कह सकते। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' इसी प्रकार की रचना है।

समालोचना या समीक्षा में किसी विषय या रचना के अभ्यंतर का दर्शन कराया जाता है। श्री राजशेखर ने इसीलिये 'अंतर्भाष्यं समीक्षा'

लिखा है। 'तीर्थ-सलिल' में विश्व-व्यास वाङ्मय के अभ्यंतर की झलक दिखाने का प्रयास किया गया है। भाषाशास्त्र के किसी सिद्धांत की अंतर्धारा का भाष्य भी समीक्षा ही के अंतर्गत मानना चाहिए। इसलिए 'अमंगल के स्थान में मंगल शब्द' एक प्रकार की सम्यक् ईक्षा ही है। इसे समीक्षा इसलिए भी कहना चाहिए कि इसमें श्री राजशेखर के मतानुसार 'अवांतरार्थ का विच्छेद' पाया जाता है।

यहाँ केवल एक प्रकार के लेख का और विचार करना है जिसे 'आत्म-व्यंजक' कहना विशेष उपयुक्त जान पड़ता है। ऐसे लेखों की विशेषता यह होती है कि चाहे कोई विषय हो या कोई स्थूल विषय न भी हो, पर लेखक अपने व्यक्तित्व की छाप से उसे रोचक और रमणीय बनाकर प्रस्तुत कर देता है। जहाँ कोई विषय होता है वहाँ नाना प्रकार के आरोपों एवं आक्षेपों से रमणीयता निष्पन्न होती है और जहाँ कोई स्थूल विषय नहीं होता वहाँ कोई विशेष परिणाम उत्पन्न करने के लिए एक ही प्रकार की अनेक युक्तियों एवं उक्तियों का विधान करके रमणीयता उत्पन्न की जाती है। पं० प्रतापनारायण मिश्र का 'बात' नामक लेख पहले प्रकार का है और पं० केशवप्रसाद मिश्र का '!' शीर्षक लेख दूसरे प्रकार का।

यहाँ तक गद्यखंडों के संकलन में जिस दृष्टि से काम लिया गया है उसका वक्तव्य हुआ। अब हिंदी के इस गद्ययुग की विभिन्न अवस्थाओं पर भी ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के पूर्व गद्य की प्रस्तावना मात्र हुई थी, वस्तुतः साहित्य में खड़ी बोली गद्य का प्रणयन उन्हीं के समय से आरंभ होता है। उन्होंने भाषा में परिष्कार और साथ ही माधुर्य का विधान करके जिस रूप का आभास दिया, वही हिंदी का सच्चा रूप था और उसी रूप के ढर्रे पर ढलती-ढलती यह भाषा आज वहाँ तक पहुँच गई है जहाँ श्री चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की भाषा दिखाई देती है। भारतेंदु बाबू के समय के लेखक

एक विशेष प्रकार की सजीवता के साथ लिखा करते थे; उनकी आन-बान पृथक्-पृथक् होते हुए भी, एक प्रकार की एकता सबमें दिखाई देती थी। वह सजीवता पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, बाबू जगमोहन सिंह आदि सभी लेखकों में पाई जाती है।

भारतेंदु-काल के पश्चात् पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के समय में भाषा के प्रसार, संस्कार और विषय-विस्तार की ओर लेखक मुड़े। कोई वाग्योग का विधान लेकर चला, जैसे पं० माधवप्रसाद मिश्र; कोई संस्कार और सामग्री के संकलन में लगा, जैसे स्वयं द्विवेदीजी; कोई साहित्य की रूपरेखा और परंपरा का निरूपण करने बैठा, जैसे बाबू श्यामसुन्दरदास; कोई बँगला की देखादेखी भावात्मक शैली की योजना करने लगा, जैसे बाबू ब्रजनंदन सहाय और कोई भाषा-विज्ञान के सिद्धांतों की खोज में प्रवृत्त हुआ, जैसे पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी।

यद्यपि पं० रामचंद्रजी शुक्ल द्विवेदीजी के समय के ही लेखक हैं, पर इनकी समीक्षाएँ जब से लोगों के सामने आईं तब से विभिन्न शैली के कुछ विशिष्ट लेखकों को छोड़कर हिंदी-साहित्य इनके प्रभाव से विशेष प्रभावित है। अब शुक्लजी के समय में गद्य के विभिन्न ढाँचे पृथक्-पृथक् दिखाई देने लगे हैं। भाषा ने प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है, शैलियाँ मँजकर निखर आई हैं। हिंदी भाषा को इस विभूति के दर्शन से मानस-नेत्रों की परितृप्ति होती है। भारतेंदु के समय या पूर्व काल में गद्य में सरलता थी, व्यंजना के मार्ग खोले जा रहे थे। द्विवेदीजी के समय या मध्यकाल में गद्य शुद्ध साहित्य से आगे बढ़कर अन्य विषयों के वाङ्मय के अनुरूप भी बनने-ठनने लगा। शुक्लजी के समय या उत्तरकाल में वह पूर्णता को प्राप्त हो रहा है, उसमें बहुत अधिक शक्ति और व्यंजकता आ गई है।

गद्यखंडों का संग्रह तारतम्य के विचार से न करके अधिकतर क्रम के विचार से ही किया गया है, किंतु पढ़ने और पढ़ानेवाले यदि उसी क्रम से पढ़ना और पढ़ाना चाहें जिस क्रम से पुस्तक में ये गद्यांश छापे

जाते हैं तो आरोह-अवरोह का भी विचार होना आवश्यक था। इसीलिए कहीं कहीं ऐतिहासिक क्रम का विचार छोड़ दिया गया है। यों तो प्रत्येक लेखक की विशेषता उसके प्रत्येक लेख में कुछ न कुछ दिखाई ही पड़ती है, किंतु इस संकलन में इस बात का बराबर ध्यान रखा गया है कि वे ही गद्यांश लिए जायँ जिनमें लेखकों के व्यक्तित्व की छाप अधिकाधिक मात्रा में हो और जिनमें कोई शैलीगत चमत्कार भी हो। विषयों की दुरूहता और शैली का चमत्कार क्रमशः गूढ़तर होता जाय, इस पर भी ध्यान रखा गया है। पुस्तक विद्यार्थियों के निमित्त प्रस्तुत की गई है, इसलिए स्थान-स्थान पर कुछ अंश आवश्यकतानुसार काट-छाँट भी दिए गए हैं। छापे को भाषा के अनुरूप चलने और लिपि को एकरूप रखने की कड़ाई के कारण एक ही रंगीन शीशे से सबको लिपि दिखाने का प्रयास भी किया गया है। इस प्रकार न जाने कितनी स्वच्छंदता से काम लिया गया है। जिन लेखकों के गद्यांश इस संग्रह में छापे गए हैं उनके प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं और सदुद्देश्य के नाते उनकी रचनाओं में जो उलट-फेर, काट-छाँट, सजाव-सिंगार आदि करने की धृष्टता की गई है, उसके लिए उनसे नम्रतापूर्वक क्षमा भी चाहते हैं।

इस बात की घोषणा कैसे करूँ कि यह संग्रह कैसा है, मधुव्रत जानें। यह तो साहित्योद्यान के एक विटपी की एक शाखा के वृंत से झूलती हुई, चतुर्दिक् सुरभि बिखेरती हुई मंजरी है न! इसे बनानेवाला पुरुष दूसरा, इसमें सुरभि देनेवाला दाता दूसरा, इसके माली दूसरे, मैं तो इसकी सुरभि पर निछावर होनेवाला परभृत हूँ—ऋतुराज का गुणगायक मात्र। यदि मार्मिक-मधुव्रतों को इसकी सुरभि खींच लाए और वे इसमें मकरंद पा जायँ तो सारा श्रेय माली को, विटपी को, साहित्योद्यान को ही है।

वसंत-पंचमी, १९९६ }
ब्रह्मनाल, काशी। }

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

सूची

साहित्य की किस प्रकार की रचना की है)

पहली सुरभि—

(श्री भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र)

यह सचमुच अद्भुत एवं अपूर्व कल्पना है। पर इसमें केवल कल्पना का ही प्राधान्य नहीं है, एक बहुत समर्थ व्यंग्य भी है। सामाजिक प्रवृत्ति की प्रच्छन्न खरी आलोचना भी है, जो इस स्वप्न-कल्पना का प्राण है। शैली अत्यंत आकर्षक और भाषा बहुत ही परिष्कृत एवं प्रांजल है। साथ ही हास का अच्छा विधान भी असाधारण बातों के संकलन से हो गया है।

एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न

आज रात्रि को पर्यंक पर जाते ही अचानक आँख लग गई। सोते में सोचता क्या हूँ कि इस चलायमान् शरीर का कुछ ठीक नहीं। इस संसार में नाम स्थिर रहने की कोई युक्ति निकल आवे तो अच्छा है, क्योंकि यहाँ की रीति देख मुझे पूरा विश्वास होता है कि इस चंपल जीवन का क्षण भर का भरोसा नहीं। ऐसा कहा भी है—

स्वाँस स्वाँस पर हरि भजो बृथा स्वाँस मति खोय।
ना जाने या स्वाँस को आवन होय न होय॥

देखो समय-सागर में एक दिन सब संसार अवश्य मग्न हो जायगा। काल-वश शशि-सूर्य भी नष्ट हो जाएँगे। आकाश में तारे भी कुछ काल पीछे दृष्टि न आवेंगे। केवल कीर्ति-कमल संसार-सरवर में रहो वा न रहो, और सब तो एक न एक दिन तप्त तवे की बूँद हुए बैठे हैं। इस हेतु बहुत काल तक सोच समझ प्रथम यह विचारा कि कोई देवालय बनाकर छोड़ जाऊँ, परंतु थोड़ी ही देर में समझ में आ गया कि इन दिनों की सभ्यता के अनुसार इससे बड़ी कोई मूर्खता नहीं, और वह तो मुझे भलीभाँति मालूम है कि यही अँगरेजी शिक्षा रही तो मंदिर की ओर मुख फेरकर भी कोई न देखेगा। इस कारण इस विचार का परित्याग करना पड़ा। फिर पड़े पड़े पुस्तक रचने की सूझी। परंतु इस विचार में बड़े काँटे निकले। क्योंकि बनाने की देर न होगी कि कीट "क्रिटिक" काट कर आधी से अधिक निगल

जायँगे। यश के स्थान, शुद्ध अपयश प्राप्त होगा। जब देखा कि अब टूटे फूटे विचार से काम न चलेगा, तब लाड़िली नींद को दो रात पड़ोसियों के घर भेज आँख बंदकर शंभु की समाधि लगा गया, यहाँ तक कि इकसठ वा इक्यावन वर्ष उसी ध्यान में बीत गए। अंत में एक मित्र के बल से अति उत्तम बात की पूँछ हाथ में पड़ गई। स्वप्न ही में प्रभात होते ही पाठशाला बनाने का विचार दृढ़ किया। परंतु जब थैली में हाथ डाला, तो केवल ग्यारह गाड़ी ही मुहरें निकलीं। आप जानते हैं इतने में मेरी अपूर्व पाठशाला का एक कोना भी नहीं बन सकता था निदान अपने इष्ट-मित्रों की सहायता लेनी पड़ी। ईश्वर को कोटि धन्य-वाद देता हूँ जिसने हमारी ऐसी सुनी। यदि ईंटों के ठौर मुहर चिनवा लेते तब भी तो दस पाँच रेल रुपये और खर्च पड़ते। होते होते सब हरिकृपा से बनकर ठीक हुआ। इसमें जितना समस्त व्यय हुआ वह तो मुझे स्मरण नहीं है, परंतु इतना अपने मुंशी से मैंने सुना था कि एक का अंक और तीन सौ सत्तासी शून्य अकेले पानी में पड़े थे। बनने को तो एक क्षण में सब बन गया था, परंतु उसके काम जोड़ने में पूरे पैंतीस वर्ष लगे। जब हमारी अपूर्व पाठशाला बनकर ठीक हुई, उसी दिन हमने हिमालय की कंदराओं में से खोज-खोजकर अनेक उद्दंड पंडित बुलवाए, जिनकी संख्या पौन दशमलव से अधिक नहीं है। इस पाठशाला में अगणित अध्यापक नियत किए गए परंतु मुख्य केवल ये हैं—पंडित मुग्धमणि शास्त्री तर्कवाचस्पति, प्रथम अध्यापक। पाखंड-प्रिय धर्माधिकारी, अध्यापक धर्मशास्त्र। प्राणांतकप्रसाद वैद्यराज, अध्यापक वैद्यकशास्त्र। लुप्तलोचन ज्योतिषाभरण,

२

अध्यापक ज्योतिषशास्त्र। शीलदावानल नीतिदर्पण, अध्यापक आत्मविद्या।

इन पूर्वोक्त पंडितों के आ जाने पर अर्धरात्रि गए पाठशाला खोलने बैठे। उस समय सब इष्ट-मित्रों के सन्मुख उस परमेश्वर को कोटि धन्यवाद दिया, जो संसार को, बनाकर क्षण भर में नष्ट कर देता है और जिसने विद्या, शील, बल के सिवाय मान, मूर्खता, परद्रोह, परनिंदा आदि परम गुणों से इस संसार को विभूषित किया है। हम कोटि धन्यवाद-पूर्वक आज इस सभा के सन्मुख अपने स्वार्थरत चित्त की प्रशंसा करते हैं जिसके प्रभाव से ऐसे उत्तम विद्यालय की नींव पड़ी। उस ईश्वर को ही अंगीकार था कि हमारा इस पृथ्वी पर कुछ नाम रहे नहीं तो जब द्रव्य की खोज में समुद्र में डूबते डूबते बचे थे तब कौन जानता था कि हमारी कपोलकल्पना सत्य हो जायगी। परंतु ईश्वर के अनुग्रह से हमारे सब संकट दूर हुए और अंत समय, हमारी अभिलाषा पूर्ण हुई। हम अपने इष्ट-मित्रों की सहायता को कभी न भूलेंगे कि जिनकी कृपा से इतना द्रव्य आया कि पाठशाला का सब खर्च चल गया और दस-पाँच पीढ़ी तक हमारी संतान के लिए बच रहा। हमारे पुत्र-परिवार के लोग चैन से हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे। हे सज्जनों, यह तुम्हारी कृपा का विस्तार है कि तन-मन से आप इस धर्मकार्य में प्रवृत्त हुए नहीं मैं दो हाथ-पैरवाला बेचारा मनुष्य आपके आगे कौन कीड़ा था जो ऐसे दुष्कर कर्म को कर लेता, यहाँ तो केवल घर की मूँछें ही मूँछें थीं। कुछ मेह कुछ गंगाजल, काम आपकी कृपा से भलीभाँति हो गया। मैं आज के दिन को नित्यता का प्रथम दिन मानता हूँ, जो औरों को

अनेक साधन से भी मिलना दुर्लभ है। धन्य है उस परमात्मा को जिसने आज हमारे यश के डहडहे अंकुर फिर हरे किए। हे सुजन शुभचिंतको! संसार में पाठशाला अनेक हुई होंगी। परंतु हरिकृपा से जो आप लोगों की सकल-पूर्ण कामधेनु यह पाठशाला है वैसी अचरज नहीं कि आपने इस ज़न्म में न देखी सुनी हो। होनहार बलवान है, नहीं कलिकाल में ऐसी पाठशाला का बनाना कठिन था। देखिए यह हम लोगों के भाग्य का उदय है कि ये महामुनि मुग्ध-मणि शास्त्री बिना प्रयास हाथ लग गए, जिनको सतयुग की आदि में इंद्र अपनी पाठशाला के निमित्त समुद्र और वन-जंगलों में खोजता फिरा, अंत में हार मान बृहस्पति को रखना पड़ा। हम फिर भी कहते हैं कि यह हमारे भाग्य ही की महिमा थी कि वे ही पंडितराज मृगयाशील श्वान के मुख में शश के धोखे बद्रिकाश्रम की एक कंदरा में पड़ गए। इनकी बुद्धि और विद्या की प्रशंसा करते दिन में सरस्वती भी लजाती है। इसमें संदेह नहीं कि इनके थोड़े ही परिश्रम से पंडित मूर्ख और अबोध पंडित हो जायँगे। हे मित्र! मेरे निकट जो महाशय बैठे हैं इनका नाम पंडित पाखंडप्रिय है। किसी समय इस देश में इनकी बड़ी मानता थी। सब स्त्री-पुरुषों को इन्होंने मोह रक्खा था। परंतु अब कालचक्र के मारे अँगरेजी पढ़े हिंदुस्थानियों ने इनकी बड़ी दुर्दशा की। इस कारण प्राण बचाकर हिमालय की तराई में हरित दूर्वा पर संतोष कर अपना कालक्षेप करते थे। विपत्ति ईश्वर किसी पर न डाले। जब तक इनका राज था दृष्टि बचाकर भोग लगाया करते थे। कहाँ अब श्वान शृगाल के संग दिन काटने पड़े, परंतु फिर भी इनकी बुद्धि पर पूरा विश्वास है कि एक

कार्तिक मास भी इनको लोग स्थिर रह जाने देंगे तो हरिकृपा से समस्त नवीन धर्मों पर चार-पाँच दिन में पानी फेर देंगे।

इनसे भिन्न पंडित प्राणांतकप्रसाद भी प्रशंसनीय पुरुष हैं। जब तक इस घट में प्राण हैं तब तक न किसी पर इनकी प्रशंसा बन पड़ी न वन पड़ेगी। ये महावैद्य के नाम से इस समस्त संसार में विख्यात हैं। चिकित्सा में ऐसे कुशल हैं कि चिता पर चढ़ते चढ़ते रोगी इनके उपकार का गुण नहीं भूलता। कितना ही रोग से पीड़ित क्यों न हो, क्षण भर में स्वर्ग के सुख को प्राप्त होता है। जब तक औषधि नहीं देते केवल उसी समय तक प्राणी को संसारी व्यथा लगी रहती है। आप लोग कुछ काल की अपेक्षा कीजिए इनकी चिकित्सा और चतुराई अपने आप प्रकट हो जायगी। यद्यपि आपके अमूल्य समय में बाधा हुई, परंतु यह भी स्वदेश की भलाई का काम था, इस हेतु आप आतुर न हूजिए और शेष अध्यापकों की अमृतमय जीवन-कहानी श्रवण कीजिए।

ये लुप्तलोचन ज्योतिषाभरण बड़े उद्दंड पंडित हैं। ज्योतिष विद्या में अति कुशल हैं। कुछ नवीन तारे भी गगन में जाकर ये ढूँढ़ आए हैं और कितने ही नवीन ग्रंथों की भी रचना कर डाली है। उनमें से "तामिस्रमकरालय" प्रसिद्ध और प्रशंसनीय है। यद्यपि इनको विशेष दृष्टि नहीं आता, परंतु तारे इनकी आँखों में भलीभाँति बैठ गए हैं।

रहे पंडित शीलदावानल नीतिदर्पण। इनके गुण अपार हैं। समय थोड़ा है, इस हेतु थोड़ा सा आप लोगों के आगे इनका वर्णन किया जाता है। ये महाशय बालब्रह्मचारी हैं। अपनी आयु भर नीतिशास्त्र पढ़ते पढ़ाते रहे हैं। इनसे नीति तो बहुत से महात्माओं ने पढ़ी थी, परंतु वेणु, बाणासुर,

रावण, दुर्योधन, शिशुपाल, कंस आदि इनके मुख्य शिष्य थे। और अब भी कोई कठिन काम आकर पड़ता है तो अँगरेजी न्यायकर्ता भी इनकी अनुमति लेकर आगे बढ़ते हैं। हम अपने भाग्य की कहाँ तक सराहना करें! ऐसा तो संयोग इस संसार में परम दुर्लभ है। अब आप सब सज्जनों से यही प्रार्थना है कि आप अपने अपने लड़कों को भेजें और व्यय आदि की कुछ चिंता न करें, क्योंकि प्रथम तो हम किसी अध्यापक को मासिक देंगे नहीं और दिया भी तो अभी दस-पाँच वर्ष पीछे देखा जायगा। यदि हमको भोजन की श्रद्धा हुई तो भोजन का बँधान बाँध देंगे, नहीं यह नियत कर देंगे कि जो पाठशाला-संबंधी द्रव्य हो उसका वे सब मिलकर नास लिया करें। अब रहे केवल पाठशाला के नियत किए हुए नियम सो आपको जल्दी सुनाए देता हूँ। शेष स्त्री-शिक्षा का जो विचार था, वह आज रात को हम घर पूछ लें तब कहेंगे।

नियमावली

(१) नाम इस पाठशाला का "गगनगत अविद्यावरुणालय" होगा।

(२) इसमें केवल वंध्या और विधवा के पुत्र पढ़ने आवेंगे।

(३) डेढ़ दिन से अधिक और पौने अट्ठानवे से कमती आयु के विद्यार्थी भीतर न आने पावेंगे।

(४) सेर भर सुँघनी अर्थात् हुलास से तीन सेर तक कक्षानुसार फीस देना पड़ेगा।

(५) दो मिनट बारह बजे रात से पूरे पाँच बजे तक पाठशाला होगी।

(६) प्रत्येक उजाली अमावस्या को भरती हुआ करेगी।

(७) पहले पक्ष में स्त्री और दूसरे पक्ष में बालक शिक्षा पावेंगे।

(८) परीक्षा प्रतिमास होगी, परंतु द्वितीया द्वादशी की संधि में हुआ करेगी।

(९) वार्षिक परीक्षा ग्रीष्म ऋतु, माघ मास में होगी। उसमें जो पूरे उतरेंगे वे उच्च पद के भागी होंगे।

(१०) इस पाठशाला में प्रथम पाँच कक्षा होंगी और प्रत्येक ऋतु के अंत में परीक्षा लेकर नीचेवाले ऊपर की कक्षा में भर दिए जायँगे।

(११) प्रतिपदा और अष्टमी भिन्न, एक अमावस्या को स्कूल और खुलेगा, शेष सब दिन बंद रहेगा।

(१२) किसी को काम के लिए छुट्टी न मिलेगी, और परोक्ष होने में पाँच मिनट में दो बार नाम कटेगा।

(१३) कुछ भी अपराध करने पर चाहे कितना भी तुच्छ हो 'इंडियन पिनल कोड' अर्थात् ताजीरात हिंद के अनुसार दंड दिया जायगा।

(१४) मुहर्रम में एक साल पाठशाला बंद रहेगी।

(१५) मलमास में अनध्याय के कारण नृत्य और संगीत की शिक्षा दी जायगी।

(१६) छल, निंदा, द्रोह, मोह आदि भवसागर के चतुर्दश कोटि रत्न घोलकर पिलाए जाया करेंगे।

(१७) इसका प्रबंध धूर्तवंशावतंस नीम जगतविदित महाशय करेंगे।

(१८) नीचे लिखी हुई पुस्तकें पढ़ाई जाएँगी—

व्याकरण—मुग्धमंजरी, शब्दसंहार, अज्ञानचंद्रिका।

धर्मशास्त्र—वंचकवृत्तिरत्नाकर, पाखंड-विडंबन, अधर्मसेतु ।

वैद्यक—मृत्युचिंतामणि, मनुष्यधनहरण, कालकुठार ।

ज्यौतिष—मुहूर्तमिथ्यावली, मूर्खाभरण, गणितगर्वांकुर ।

नीतिशास्त्र—नष्टनीतिदीप, अनीतिशतक, धूर्तपंचाशिका । इन दिनों की सभ्यता के मूल ग्रंथ—असत्यसंहिता, दुष्टचरितामृत, भ्रष्टभास्कर ।

कोश—कुशब्दकल्पतरु, शून्यसागर ।

नवीन नाटक—स्वार्थसंग्रह, कृतघ्नकुलमंडन ।

अब जिस किसी को हमारी पाठशाला में पढ़ना अंगीकार हो, यह समाचार सुनने के प्रथम, तार में खबर दें । नाम उसका किताब में लिख लेंगे, पढ़ने आओ चाहे मत आओ ।

दूसरी सुरभि—

(श्री पं० प्रतापनारायण मिश्र)

इस निबंध में लेखक ने 'बात की करामात' दिखलाई है। आत्मव्यंजक निबंधों में लेखक अपनी 'व्याप्ति' द्वारा शब्द-लक्षण प्रस्तुत करता है और उसके भीतर न जाने कितनी बातें खींच लेता है। यहाँ लेखक ने 'बातों' के स्वरूप-लक्षण में इसी व्याप्ति का चमत्कार दिखाया है। बोलचाल, वाग्योग (मुहावरे) और लोकोक्ति तीनों का विधान करके शैली का एक ऐसा वैशिष्ट्य उत्पन्न किया गया है जो भारतेंदु काल के ऐसे लेखकों में बराबर दिखाई पड़ता है। मिश्रजी में चलतापन और चमत्कार की प्रवृत्ति सबसे अधिक है। विनोदवृत्ति का निरालापन और मस्ती से भरा ढंग इनकी अपनी विशेषता है। मिश्रजी में समाहार की रुचि थी, विश्लेषण की उतनी नहीं। इनमें चपलता का बहुत अधिक योग दिखाई देता है जो आलंकारिकता लिए रहता है।

बात

यदि हम वैद्य होते तो कफ और पित्त के सहवर्ती बात की व्याख्या करते तथा भूगोलवेत्ता होते तो किसी देश के जल-बात का वर्णन करते, किंतु इन दोनों विषयों में से हमें एक बात के कहने का भी प्रयोजन नहीं है। हम तो केवल उसी बात के ऊपर दो चार बातें लिखते हैं जो हमारे तुम्हारे संभाषण के समय मुख से निकल-निकल के पर-पर-हृदयस्थ भाव को प्रकाशित करती रहती है। सच पूछिए तो इस बात की भी क्या बात है जिसके प्रभाव से मानव-जाति समस्त जीवधारियों की शिरोमणि— अशरफुलमखलूकात कहलाती है। शुक-सारिकादि पक्षी केवल थोड़ी सी समझने योग्य बातें उच्चारित कर सकते हैं। इसी से अन्य नभचारियों की अपेक्षा आहत समझे जाते हैं। फिर कौन न मान लेगा कि बात की बड़ी बात है। हाँ, बात की बात इतनी बड़ी है कि परमात्मा को लोग निराकार कहते हैं तो भी इसका संबंध उसके साथ लगाए रहते हैं। वेद 'ईश्वर का वचन' है, कुरानशरीफ 'कलामुल्लाह' है, होली बाइबिल 'वर्ड आफ् गॉड' है; यह वचन, कलाम और वर्ड बात ही के पर्याय हैं जो प्रत्यक्ष में मुख के बिना स्थित नहीं रह सकती, पर बात की महिमा के अनुरोध से सभी धर्मावलंबियों ने "बिन बानी वक्ता बड़ योगी" वाली बात मान रक्खी है। यदि कोई न माने तो लाखों बातें बना के मनाने पर कटिबद्ध रहते हैं यहाँ तक

कि प्रेम-सिद्धांती लोग निरवयव नाम से मुँह बिचकावेंगे, "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" पर हठ करनेवाले को यह कहकर वातों में उड़ावेंगे कि "हम लँगड़े लूले, हमारा प्यारा तो कोटि-कामसुंदर श्यामवर्ण-विशिष्ट है।" निराकार शव्द का अर्थ श्री शालिग्राम शिला है जो उसकी श्यामता का द्योतन करती है अथवा योगाभ्यास करनेवाले को आँखें मूँदने पर जो कुछ पहले दिखाई देता है वह निराकार अर्थात् बिलकुल काला रग है। सिद्धांत यह कि रंग-रूप-रहित रंग को सव रंग-रंगित एवं अनेक-रूप-सहित ठहरावेंगे किंतु कानों अथवा प्रानों वा दोनों को प्रेमरस से सिंचित करनेवाली उसकी मधुर मनोहर बातों के मजे से अपने को वंचित न करने देंगे! जव परमेश्वर तक बात का प्रभाव पहुँचा हुआ है तो हमारी कौन वात रही? हम लोगों को तो 'गात माँहि वात करामात' है, नाना शास्त्र, पुराण, इतिहास, काव्य, कोश इत्यादि सव बात ही के फैलाव हैं। जिनके मध्य एक-एक बात ऐसी पाई जाती है जो मन, बुद्धि, चित्त को अपूर्व दशा में ले जाने-वाली अथच लोक-परलोक में सव वात बनानेवाली है। यद्यपि बात का कोई रूप नहीं बतला सकता कि कैसा है पर बुद्धि दौड़ाइए तो ईश्वर की भाँति इसके भी अगणित ही रूप पाइएगा। बड़ी वात, छोटी वात, सीधी बात, टेढ़ी बात, खरी वात, खोटी बात, मीठी बात, कड़वी बात, भली वाव, बुरी वात, सुहानी बात, लगती बात इत्यादि सब वात ही तो हैं! बात के काम भी इस भाँति अनेक देखने में आते हैं। प्रीति-वैर, सुख-दुख, श्रद्धा-घृणा, उत्साह-अनुत्साहादि जितनी उत्तमता और सहजतया बात के द्वारा विदित हो सकते हैं दूसरी रीति से वैसी सुविधा ही नहीं। यहीं घर

वैठे लाखों कोस का समाचार मुख और लेखनी से निर्गत वात ही वतला सकती है। डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से वात की वात में, चाहे जहाँ की जो वात हो, जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त वात वनती है, वात विगड़ती है, वात आ पड़ती है, वात जाती रहती है, वात खुलती है, वात छिपती है, वात चलती है, वात अड़ती है, वात जमती है, वात उखड़ती है, हमारे तुम्हारे भी सभी काम वात ही पर निर्भर हैं। "वातहिं हाथी पाइए वातहिं हाथी पाँव"—वात ही से पराये अपने और अपने पराये हो जाते हैं। मक्खीचूस उदार तथा उदार स्वल्पव्ययी, कापुरुष युद्धोत्साही एवं युद्धप्रिय शांति-श्लोक, कुमार्गी, सुपथगामी, अथच सुपंथी कुराही इत्यादि वन जाते हैं। वात का तत्त्व समझना हरएक का काम नहीं है और दूसरों की समझ पर आधिपत्य जमाने योग्य वात गढ़ सकना ऐसों वैसों का साथ नहीं है। वड़े-वड़े विज्ञवरों तथा महा-महाकवीश्वरों के जीवन वात ही के समझने और समझाने में व्यतीत हो जाते हैं। सहृदयगण की वात के आनंद के आगे सारा संसार तुच्छ जँचता है। वालकों की तोतली वातें, मंदिरियों की मीठी मीठी प्यारी प्यारी वातें, सत्कवियों की रसीली वातें, सुवक्ताओं की प्रभाव-शालिनी वातें, जिसके जी को और का और न कर दें उसे पशु नहीं पाषाण-खंड कहना चाहिए; क्योंकि कुत्ते, विल्ली आदि को विशेष समझ नहीं होती तो भी पुचकार के तू-तू पूसी-पूसी इत्यादि वातें कह दो तो भावार्थ समझ के यथासामर्थ्य स्नेह-प्रदर्शन करने लगते हैं। फिर वह मनुष्य कैसा जिसके चित्त पर दूसरे हृदयवान् की वात का असर न हो। वात वह आदरणीय वात है कि भलेमानस वात और वाप को एक समझते हैं। हाथी के दाँत की भाँति उनके मुख से एक वार कोई वात निकल आने पर

फिर कदापि नहीं पलट सकती। हमारे परम पूजनीय आर्यगण अपनी बात का इतना पक्ष करते हैं कि "तन तिय तनय धाम धन धरनी; सत्यसंध कहँ तृन सम वरनी" अथच "प्रानन तें सुत अधिक है, सुत तें अधिक परान, ते दूनो दशरथ तजे बचन न दीन्हों जान" इत्यादि उनकी अक्षरसंबद्धा कीर्ति सदा संसार-पट्टिका पर सोने के अच्चरों से लिखी रहेगी, पर आजकल के बहुतेरे भारत-कुपुत्रों ने यह ढंग पकड़ रक्खा है "मर्द की जवान और गाड़ी का पहिया चलता ही फिरता है"। आज और बातं हैं कल ही स्वार्थांधता के वश हुजूरों की मर्जी के मुवाफिक दूसरी बातें हो जाने में तनिक भी विलंब की संभावना नहीं है। यद्यपि कभी-कभी अवसर पड़ने पर बात के कुछ अंश का रंग-ढंग परिवर्तित कर लेना विरुद्ध नहीं है, पर कब? जात्योपकार, देशोद्धार आर्यकुल-रत्नों के अनुगमन की सामर्थ्य नहीं है किंतु हिंदुस्तानियों के नाम पर कलंक लगाने को भी सहमार्गी बनने में घिन लगती है। इससे यह रीति अंगीकार कर रक्खी है कि चाहे कोई बड़ा बतकहा अर्थात् बातूनी कहे, चाहे यह समझे कि बात करने का भी शऊर नहीं है किंतु अपनी मति के अनुसार ऐसी बातें बनाते रहना चाहिए जिनमें कोई न कोई किसी न किसी के वास्तविक हित की बात निकलती रहे, पर खेद है कि हमारी बातें सुननेवाले उँगलियों ही पर गिनने भर को हैं। इससे बात-बात में बात निकालने का उत्साह नहीं होता। "अपने जी की क्या बने बात जहाँ बात बनाये न बने" इत्यादि विदिग्धालापों की लेखनी से निकली हुई बातें सुना के कुछ फुसला लेते हैं और विन बात की बात का बतबढ़ समझ के बहुत बात बढ़ाने से हाथ समेट लेना ही समझते हैं कि अच्छी बात है।

तीसरी सुरभि—

(श्री पं० बालकृष्ण भट्ट)

आत्मनिर्भरता पर जिस आवेश से भट्टजी ने विचार किया है वह उनकी शैली की विशेषता है। इनमें खीझ को एक ढंग से व्यक्त करने की बहुत बड़ी शक्ति थी। आपके विचार से भारत की अवनति का केवल एक कारण है, और वह है आत्मनिर्भरता का अभाव। न हम आत्म-निर्भर हैं, न लड़कों को आत्मनिर्भर बनाते हैं और न उन्हें उस प्रकार की शिक्षा ही दी जाती है। बाल-विवाह ही बतलाता है कि हम अपनी संतति को परमुखापेक्षी बनाने के लिए बेड़ियाँ पहना रहे हैं। इनकी भाषा में सब प्रकार के शब्दों का प्रयोग है—अरबी-फारसी के भी चलते शब्दों का और कहीं कहीं अँगरेजी के चलते शब्दों का भी। ऐसी आवेशपूर्ण शैली अन्य लेखकों में नहीं दिखलाई पड़ती।

1950 'आत्मनिर्भरता' शीर्षक निबंध शैली की विशेषतायें बताइये।

आत्मनिर्भरता

आत्मनिर्भरता (अपने भरोसे पर रहना) ऐसा श्रेष्ठ गुण है कि जिसके न होने से पुरुष में पौरुषत्व का अभाव कहना अनुचित नहीं मालूम होता। जिनको अपने भरोसे का बल है, वे जहाँ होंगे, जल में तूँबी के समान सबके ऊपर रहेंगे। ऐसों ही के चरित्र पर लक्ष्य कर महाकवि भारवि ने कहा है—

"लंघयन् खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यत:"

अर्थात् तेज और प्रताप से संसार-भर को अपने नीचे करते हुए ऊँची उमंगवाले दूसरे के द्वारा अपना वैभव नहीं बढ़ाना चाहते। शारीरिक बल, चतुरंगिणी सेना का बल, प्रभुता का बल, ऊँचे कुल में पैदा होने का बल, मित्रता का बल, मंत्र-तंत्र का बल इत्यादि जितने बल हैं, निज बाहुबल के आगे सब क्षीणबल हैं, वरन् आत्मनिर्भरता की बुनियाद यह बाहुबल सब तरह के बल को सहारा देनेवाला और उभारनेवाला है। योरप के देशों की जो इतनी उन्नति है, तथा अमेरिका, जापान आदि जो इस समय मनुष्य-जाति के सिरताज हो रहे हैं, इसका यही कारण है कि उन-उन देशों में लोग अपने भरोसे पर रहना या कोई काम करना अच्छी तरह जानते हैं। हिंदोस्तान का जो सत्यानाश है, इसका यही कारण है कि यहाँ के लोग अपने भरोसे पर रहना भूल ही गए। इसी से सेवकाई करना यहाँ के लोगों से जैसी खूब-सूरती के साथ बन पड़ती है, वैसा स्वामित्व नहीं। अपने

भरोसे पर रहना ज़ब हमारा गुण नहीं, तब क्योंकर संभव है कि हमारे में प्रभुत्व-शक्ति को अवकाश मिले। निरी क़िस्मत और भाग्य पर वे ही लोग रहते हैं जो आलसी हैं। किसी ने अच्छा कहा है—

"दैव-दैव आलसी पुकारै।"

ईश्वर भी सानुकूल और सहायक उन्हीं का होता है, जो अपनी सहायता अपने आप कर सकते हैं। अपने आप अपनी सहायता करने की वासना आदमी में सच्ची तरक्की की बुनियाद है। अनेक सुप्रसिद्ध सत्पुरुषों की जीवनी इसका उदाहरण तो है ही, वरन् प्रत्येक देश या जाति के लोगों में बल और ओज तथा गौरव और महत्त्व (नेशनल विगर एंड स्ट्रेंग्थ) के आने का आत्मनिर्भरता सच्चा द्वार है। बहुधा देखने में आता है कि किसी काम के करने में बाहरी सहायता इतना लाभ नहीं पहुँचा सकती, जितनी आत्मनिर्भरता। समाज के बंधन में भी देखिए, तो बहुत तरह के संशोधन सरकारी कानूनों के द्वारा वैसा नहीं हो सकते, जैसा समाज के एक-एक मनुष्य का अलग-अलग अपना संशोधन अपने आप करने से हो सकते हैं। कड़े-से-कड़ा कानून आलसी-समाज को परिश्रमी, अपव्ययी या फ़िज़ूलखर्च को किफ़ायतशार या परिमित-व्ययशील, शराबी को परहेजगार, क्रोधी को शांत या सहनशील, सूम को उदार, लोभी को संतोषी, मूर्ख को विद्वान्, दर्पांध को नम्र, दुराचारी को सदाचारी, कदर्य को उन्नतमना, दरिद्र भिखारी को आढ्य, भीरु डरपोक को वीरधुरीण, झूठे गपोड़िए को सच्चा, चोर को सहनशील, व्यभिचारी को

एकपत्नी-व्रतधर इत्यादि नहीं बना सकता, किंतु ये सब बातें हम अपने ही प्रयत्न और चेष्टा से अपने में ला सकते हैं। सच पूछो, तो जाति या कौम भी सुधरे हुए ऐसे एक-एक व्यक्ति की समष्टि है। समाज या जाति के एक-एक आदमी यदि अलग-अलग अपने को सुधारें, तो जाति-की-जाति या समाज-की-समाज सुधर जाय।

सभ्यता और है क्या? यही कि सभ्य जाति के एक-एक मनुष्य आबालवृद्ध, वनिता सबों में सभ्यता के सब लक्षण पाए जायँ। जिसमें आधे या तिहाई सभ्य हैं, वही जाति अर्द्धशिक्षित कहलाती है। कौमी तरक्की भी अलग-अलग एक-एक आदमी के परिश्रम, योग्यता, सुचाल और सौजन्य का मानों टोटल है। उसी तरह कौम की तनज्जुली कौम के एक-एक आदमी की सुस्ती, कमीनापन, नीची प्रकृति, स्वार्थपरता और भाँति-भाँति की बुराइयों का ग्रैंड टोटल है। इन्हीं गुणों और अवगुणों को जाति-धर्म के नाम से भी पुकारते हैं, जैसा सिक्खों में वीरता और जंगली असभ्य जातियों में लुटेरापन। जातीय गुणों या अवगुणों को गवर्नमेंट कानून के द्वारा रोक दे या जड़पेड़ से नेस्तनाबूद कर दे, परंतु वे किसी दूसरी शक्ल में न सिर्फ फिर से उभड़ आवेंगे, वरन् पहले से ज्यादा तरोताजगी और सरसब्जी की हालत में हो जायँगे। जब तक किसी जाति के हरएक व्यक्ति के चरित्र में आदि से मौलिक सुधार न किया जाय, तब तक अव्वल दरजे के देशानुराग और सर्वसाधारण के हित की वांछा सिर्फ कानून के अदल-बदलपन से या नए कानून जारी करने से नहीं पैदा हो सकती। जालिम-से-जालिम बादशाह की हुकूमत में भी रहकर कोई कौम गुलाम नहीं कही जा सकती वरन् गुलाम वही कौम है, जिसमें एक-एक व्यक्ति

सब भाँति कदर्य, स्वार्थ-परायण और जातीयता के भाव से रहित है। ऐसी कौम जिसकी नस में दास्य-भाव समाया हुआ है, कभी तरक्की नहीं करेगी, चाहे कैसे ही उदार शासन से वह शासित क्यों न की जाय। तो निश्चय हुआ कि देश की स्वतंत्रता की गहरी और मजबूत नींव उस देश के एक-एक आदमी के आत्मनिर्भरता आदि गुणों पर स्थित है। ऊँचे-से-ऊँचे दरजे की तालीम बिलकुल बेफायदा है, यदि हम अपने ही सहारे अपनी बेहतरी न कर सकें। जॉन स्टुअर्ट मिल का सिद्धांत है कि "राजा का भयानक-से-भयानक अत्याचार देश पर कभी कोई बुरा असर नहीं पैदा कर सकता, जब तक उस देश के एक-एक व्यक्ति में अपने सुधार की अटल वासना दृढ़ता के साथ बद्धमूल है।"

पुराने लोगों से जो चूक और गलती बन पड़ी है, उसी का नतीजा वर्तमान समय में हम लोग भुगत रहे हैं। उसी को चाहे जिस नाम से पुकारिए—यथा जातीयता का भाव जाता रहा, एका नहीं है, आपस की हमदर्दी नहीं है इत्यादि। तब पुराने क्रम को अच्छा मानना और उस पर श्रद्धा जमाए रखना हम क्योंकर अपने लिए उपकारी और उत्तम मानें। हम तो इसे निरी चंडूखाने की गप समझते हैं कि—"हमारा धर्म हमें आगे नहीं बढ़ने देता, अथवा विदेशी राज से शासित हैं, इसी से हम तरक्की नहीं कर सकते।" वास्तव में सच पूछो, तो आत्मनिर्भरता अर्थात् अपनी सहायता अपने आप करने का भाव हमारे बीच है ही नहीं। यह सब हमारी वर्तमान दुर्गति का परिणाम है, बुद्धिमानों का अनुभव हमें यही कहता है कि मनुष्य में पूर्णता विद्या से नहीं, वरन् काम से होती है। प्रसिद्ध पुरुषों की

जीवनी पढ़ने ही से नहीं, वरन् उन प्रसिद्ध पुरुषार्थी पुरुषों के चरित्र का अनुकरण करने से मनुष्य में पूर्णता आती है। योरप की सभ्यता, जो आजकल हमारे लिए प्रत्येक उन्नति की बातों में उदाहरण-स्वरूप मानी जाती है, एक दिन या एक आदमी के काम का परिणाम नहीं है। जब कई पुश्त तक देश-का-देश ऊँचे काम, ऊँचे ख्याल और ऊँची वासनाओं की ओर प्रवल-चित्त रहा, तब वे इस अवस्था को पहुँचे हैं। वहाँ के हरएक फ़िरके, जाति या वर्ण के लोग धैर्य के साथ धुन बाँध के बरावर अपनी-अपनी तरक्की में लगे हैं। नीचे-से-नीचे दरजे के मनुष्य—किसान, कुली, कारीगर आदि—और ऊँचे-से-ऊँचे दरजेवाले—कवि, दार्शनिक, राजनीतिक (Politician)—सबों ने मिलकर कौमी तरक्की को इस दरजे तक पहुँचाया है। एक ने एक बात को आरंभ कर उसका ढाँचा खड़ा कर दिया, दूसरे ने उसी ढाँचे पर साबित-कदम रख एक दरजा और बढ़ाया; इसी तरह क्रम-क्रम से कई पीढ़ी के उपरांत वह बात जिसका केवल ढाँचा-मात्र पड़ा था, पूर्णता और सिद्ध अवस्था तक पहुँच गई। ये अनेक शिल्प और विज्ञान, जिनकी दुनिया भर में धूम मची है, इसी तरह शुरू किए गए थे, और ढाँचा छोड़नेवाले पूर्वपुरुष अपनी भाग्यवान् भावी संतान को उस शिल्प-कौशल और विज्ञान की बड़ी भारी मीरास या बपौती का उत्तराधिकारी बना गए।

आत्मनिर्भरता या "अपने आप अपनी सहायता" के संबंध में जो शिक्षा, हमें खेतिहर, दूकानदार, बढ़ई, लोहार आदि कारीगरों से मिलती है, उसके मुकाबले में स्कूल और कालेजों की शिक्षा कुछ नहीं है; और यह शिक्षा हमें पुस्तक या किताबों से नहीं मिलती, वरन् एक-एक मनुष्य के चरित्र,

आत्मदमन, दृढ़ता, धैर्य, परिश्रम, स्थिर अध्यवसाय पर दृष्टि रखने से मिलती है। इन सब गुणों से हमारे जीवन की सफलता है। ये गुण मनुष्य-जाति की उन्नति का छोर है, और हमें जन्म ले क्या करना चाहिए, इसका सारांश है।

बहुतेरे सत्पुरुषों के जीवन-चरित्र धर्म-ग्रंथ के समान हैं, जिनके पढ़ने से हमें कुछ-न-कुछ उपदेश जरूर मिलता है। बड़प्पन किसी जाति-विशेष या खास दरजे के आदमियों के हिस्से में नहीं पड़ा। जो कोई बड़ा काम करे या जिससे सर्वसाधारण का उपकार हो, वही बड़े लोगों की कोटि में आ सकता है। वह चाहे गरीब-से-गरीब या छोटे-से-छोटे दरजे का क्यों न हो, बड़े से बड़ा है। वह मनुष्य के तन में साक्षात् देवता है। हमारे यहाँ अवतार ऐसे ही लोग हो गए हैं। सबेरे उठ जिनका नाम न लेने से दिन भर के लिए मंगल की गारंटी समझी जाती है, ऐसे महामहिमाशाली जिस कुल में जन्मते हैं, वह कुल उजागर और पुनीत हो जाता है। ऐसों ही की जननी वीरप्रसू कही जाती हैं। पुरुषसिंह ऐसा एक पुत्र अच्छा, गीदड़ों की खासियत वाले सौ पुत्र भी किस काम के? पुत्र-जन्म में लोग बड़ी खुशी मनाते हैं, शहनाई बजवाते हैं, फूले नहीं समाते। हमें पछतावा और दुःख होता है कि जहाँ तीस करोड़ गीदड़ थे, वहाँ एक गिनती और बढ़ी; क्योंकि हिंदुस्तान की हमारी बिगड़ी गिरी कौम में सिंह का जन्मना सर्वथा असंभव सा प्रतीत होता है, और न हम लोगों के ऐसे पुण्य के काम हैं कि हमारे बीच सब सिंह-ही-सिंह जन्म लें। तब हमारी अधिक बढ़ती जैसी बाल्य-विवाह की कृपा से हो रही है, किस काम की? सिवा इसके कि हिंदुस्तान की पृथ्वी का बोझ बढ़ता

जाय। समाज में ऐसे-ऐसे कुसंस्कार और निंदित रीतियाँ चल पड़ी हैं कि आत्मनिर्भरता पास तक नहीं फटकने पाती। बहुत तरह के समाज-बंधन तथा खान-पान आदि की कैद, जो हमारे पीछे लगा दी गई है, उन सबका यही तो परिणाम हुआ कि आजादी, जिस पर आत्मनिर्भरता या किसी दूसरे पौरुषेय गुण की लंबी-चौड़ी इमारत खड़ी हो सकती है, शुरू ही से नहीं आने पाती। जब कि योरप के भिन्न-भिन्न देशों में माँ-बाप अपने लड़कों को तालीम देने के साथ-ही-साथ अपने भरोसे पर जिंदगी की किश्ती को किस तरह पर खे ले जाना चाहिए, यह लड़कपन से सिखाते हैं, तब यहाँ दुधमुहे बालक-बालिकाओं का ब्याह कर स्वयं अपने भरण-पोषण तथा अन्य समस्त पौरुषेय गुण की जड़ पर कुल्हाड़ा चलाने का प्रयत्न किया जाता है। योरप के देशों में पिता पुत्र को शक्तिभर उत्तम से उत्तम शिक्षा दे उसे संग्राम के लिए तैयार कर देता है, जिसमें वह अपने आप निर्वाह कर सके। वहाँ के माँ-बाप हम लोगों के माँ-बाप की तरह अपने पुत्र के मित्रमुख शत्रु नहीं हैं कि बिना सोचे समझे लड़कपन से चक्की का पाट गले में बाँध उस बेचारे को सब तरह पर हीन, दीन और लाचार कर डालें और आप भी चिता पर पहुँचने तक लड़कों की फिक्र में सुचित्त न रहें। इतिहास से पूरा पता लगता है कि जब से यहाँ ब्रह्मचर्य की प्रथा उठा दी गई है और दुधमुहों का ब्याह जारी कर दिया गया, तब से आज तक बराबर हमारी घटती ही होती जाती है। हम तो यही कहेंगे कि जैसा पाप हमसे बन पड़ता है, उसके मुकाबले में हमें कुछ भी दंड नहीं मिलता। दस या बारह वर्ष की कन्याओं के विवाह-रूपी

महापाप की इतनी सजा मिली, तो कुछ न हुआ। अस्तु, हमारे में आत्मनिर्भरता न होने का बाल्य-विवाह एक बहुत बड़ा प्रधान कारण है। इसी का फल है कि हम नया कुआँ खोद नया स्वच्छ पानी पीना जानते ही नहीं।

हमारे देश की कुल आबादी के दस हिस्से में से आठ हिस्सा ऐसा है, जो केवल बाप-दादों की कमाई या परंपराप्राप्त जीविका अथवा वृत्ति से निर्वाह करता है। सौ में एक ऐसे मिलेंगे, जो अपने निज बाहुबल और पुरुषार्थ के भरोसे हैं, सो भी उनके सब पुरुषार्थ, करतूत या सपूती का निचोड़ केवल इतना ही है, जैसा किसी कवि ने कहा है—

"अन्नपानजिता दारा सफलं तस्य जीवनम्।"

अर्थात् सफल जीवन उसी का है, जिसने अन्न-वस्त्र से अपने लड़के और स्त्री को प्रसन्न कर रखा है। इतना जिसने किया, वह पक्का सपूत और पुरुषार्थी है।

इधर पचास-साठ वर्षों से अँगरेजी राज्य के अमन-चैन का फायदा पा हमारे देशवाले किसी भलाई की ओर न झुके, वरन् दस वर्ष की गुड़ियों का ब्याह पहले से ड्योढ़ी-दूनी सृष्टि अलबत्ता बढ़ाने लगे। हमारे देश की जन-संख्या अवश्य घटनी चाहिए और उसके घटाने का सुगम उपाय केवल बाल्य-विवाह का रुक जाना है। गवर्नमेंट को चाहिए कि वह बाल्य-विवाह को जुर्म में दाखिल कर पूरे सिन पर आने के पहले जो अपनी कन्या या पुत्र का विवाह करे, उसके लिए कोई भारी सजा या जुर्माना कायम कर दे। तब कदाचित् यह बुराई हम लोगों में से दूर हो, नहीं तो सीधी तरह से ये कभी राह पर नहीं आनेवाले हैं। आत्मनिर्भरता में दृढ़, अपने कूवते-बाजू पर भरोसा रखनेवाली, पुष्टवीर्य, पुष्टबल, भाग्यवान एक संतान अच्छी, कूकर-सूकर

से निकम्मे, रग-रग में दास-भाव से पूर्ण, परभाग्योपजीवी दस किस काम के ?

"एकेनापि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भयम् ।"

आदमी के लिए आजादी एक बेश-कीमती मोती है। वह आजादी तभी हासिल हो सकती है, जब हम अनेक तरह की फिकर और चिंता से निर्द्वंद्व हों और हमारी तबियत में आत्मनिर्भरता ने दखल कर लिया हो। इस दशा में बड़ी-से बड़ी चिंता और फिक्र हमें उतनी असह्य न मालूम होगी कि वह हमारी स्वच्छंदता को जड़ से उखाड़ सके। किसी वस्तु का जब बीज बना रहता है, तो उसको फिर बढ़ा लेना सहज है। आत्मनिर्भरता की योग्यता संपादन किए बिना ही हम लोगों के माँ-बाप लड़कपन में अपने लड़कों का व्याह कर यावज्जीवन के लिए उनको स्वच्छंदता का बीज नष्ट कर देते हैं। उपरान्त उनका शेष जीवन बोझ और अपाढ़ हो जाता है। इँगलैंड और अमेरिका, जो इस समय उन्नति के शिखर पर चढ़े हैं, सो इसलिए कि वहाँ गृहस्थी करना हरएक आदमी की इच्छा पर निर्भर है। वहाँ माँ-बाप को कोई अधिकार नहीं रहता -कि निरे नाबालिक का व्याह कर दें। यही सबब है कि उन-उन देशों में प्रायः सभी बड़प्पन का दावा कर सकते हैं। हमारे यहाँ भी शंकर, नानक, कबीर, कृष्ण, चैतन्य, बुद्धदेव तथा हाल में स्वामी दयानंद, जिनका बड़प्पन हम लोग मुक्त-कंठ हो स्वीकार करते हैं और जिनका नाम लेते चित्त गद्गद हो जाता है, सब-के-सब गृहस्थी के बोझ से स्वच्छंद थे। आत्मनिर्भरता इन महापुरुषों में पूरा प्रभाव रखती थी। किसी का मत है—मुल्क की तरक्की औरतों की तालीम से होगी, कोई कहता है—

विधवा-विवाह जारी होने से भलाई है, कोई कहता है—खाने-पीने की क़ैद उठा दी जाय, तो हिंदू लोग स्वर्ग पहुँच इंद्र का आसन छीन लें, कोई कहता है—विलायत जाने से तरक़्क़ी होगी, कोई कहता है—फ़िज़ूलखर्ची कम कर दी जाय, तो मुल्क अभी तरक़्क़ी की सीढ़ी पर लपक के चढ़ जाय। हम कहते हैं—इन सब बातों से कुछ न होगा, जब तक बाल्य-विवाहरूपी कोढ़ हमारा साफ़ न होगा। हम जानते हैं, हमारा यह रोना-झीखना केवल अरण्यरोदन-मात्र है; फिर भी गला फाड़-फाड़ चिल्लाते रहेंगे, कदाचित् किसी की तबियत पर कुछ असर पैदा हो जाय और आत्मनिर्भरता-ऐसे श्रेष्ठ गुण को हम लोगों के बीच भी प्रकट होने का अवकाश मिले।

—

चौथी सुरभि—

(श्री बाबू जगमोहन सिंह)

अपने 'श्यामा-स्वप्न' नाम के उपन्यास में लेखक ने कई रसपूर्ण वर्णन रखे हैं। इनमें से 'श्यामापुर' का वर्णन सबसे उत्कृष्ट जान पड़ता है। 'कादंबरी' की पद्धति का अनुसरण होते हुए भी सहज अनुप्रास एवं सुबोध अलंकारों के अतिरिक्त और किसी भद्दे आलंकारिक चमत्कार का विधान न होने से इनके वर्णन बहुत ही स्वाभाविक हैं। गद्य के क्षेत्र में प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण हिंदी के इसी लेखक में देखने को मिलता है। गाँव की परिस्थिति और वहाँ के निवासियों का भी उसी भावुकता से वर्णन किया गया है जैसे प्रकृति का। भाषा बहुत ही चलती और शैली दूर तक उलझी हुई वाक्यावली के बीच भी बहुत ही प्रसन्न और प्रसादपूर्ण है। शब्दों की माधुरी, दृश्यों की मनोहरता और निरीक्षण की सचाई से इनका वर्णन परिपूर्ण है। चित्रांकन की रेखाएँ इतनी स्पष्ट हैं कि एक रूप खड़ा हो जाता है।

श्यामापुर

भारतखंड में अनेक खंड हैं, पर आर्यावर्त सा मनोहर और कोई देश नहीं, पृथ्वी के अनेक द्वीप-द्वीपांतर, एक से एक विचित्र, जिनका चित्र ही मन को हरे लेता है वर्तमान हैं, पर आर्यावर्त सी पुण्यभूमि न तो आँखों देखी और न कानों सुनी। इसके उत्तर भाग की सीमा में हिमालय सा ऊँचा पर्वत, जो पृथ्वी के मानदंड के सदृश है, भूलोक मात्र में ऐसा दूसरा नहीं। गंगा और यमुना सी पावन नदियाँ कहाँ हैं जिनके जल साक्षात् अमृतत्व को पहुँचानेवाले हैं ?

त्रिपथगा की, जो आकाश, पाताल और मर्त्य-लोक को तारती है कौन समता कर सकता है ? सुर और असुरों के मुकुट-कुसुमों की रजराजि की परिमलवाहिनी, पितामह के कमंडलु की धर्मरूपी द्रवधारा, धरातल में सैकड़ों सगरसुतों को सुरनगर पहुँचाने की पुण्यडोरी, ऐरावत के कपोल घिसने से जिसके तट के हरिचंदन से तरुवर स्यंदन होकर सलिल को सुरभित करते हैं, गंध से अंध हुई भ्रमरमाला, छंदोविचित की मालिनी, अंधतमसा-रहित भी तमसा के सहित भगवती भागीरथी हिमाचल की कन्या सी जगत् को पवित्र करती हुई, नरक से नारकियों को निकालती इस असार संसार की असारता को सार करती हैं। भगवान् मदनमथन के मौलि की मालती की सुमनमाला, हाला-हलकंठवाले के काले बालों की विशाल जाला, पाला के पर्वत से निकलकर सहस्र कोसों बहती विष्णु से जगद्-

व्यापक सागर से मिलती रहती है, इसकी महिमा कौन कह सकता है ?

(यम की छोटी बहिन यमुना से सख्यता करने से यमराज-नगर के नरकादि-बंदियों को मुक्ति कराने में कुछ प्रयास नहीं होता। प्रयागराज में यमुना की सहचरी होकर इस भाव को दरसाती है, इसका समागम इस स्थल पर उनकी श्याम और सेत सारी से प्रकट होता है।)

(इसके दक्षिण विंध्याचल सा अचल उत्तर और दक्षिण को नापता भगवान् अगस्त्य का किंकर दंडवत करता हुआ विराजमान है, इसके पुण्य चरणों को धोती मोती की माला की नाईं मेकलकन्यका वहती है। यह पश्चिमवाहिनी, जिसकी सबसे विलग गति है, अपनी वहिन तापती के साथ होकर विंध्य के कंदरों की दरी में तप करती, सूर्य के ताप से तापित, सौतों के सदृश अपने बहुवल्लभ सागर से जा मिलती है।) इसी नर्मदा के दक्षिण दंडकारण्य का एक देश दक्षिण कोशल के नाम से प्रसिद्ध है।

याही मग ह्वै कै गए दंडक-वन श्री राम।
तासों पावन देश यह विंध्याटवी ललाम॥

मैं कहाँ तक इस सुंदर देश का वर्णन करूँ ? कहीं कहीं कोमल श्याम, कहीं भयंकर और रूखे सूखे वन, कहीं झरनों का झंकार, कहीं तीर्थ के आकार मनोहर मनोहर दिखाते हैं। कहीं कोई बनैला जंतु प्रचंड स्वर से बोलता है, कहीं कोई मौन ही होकर डोलता है। कहीं विहंगमों का रार, कहीं निष्कूजित कुंजों के छोर, कहीं नाचते हुए मोर, कहीं विचित्र तमचोर, कहीं स्वेच्छाहार विहार करके सोते हुए अजगर, जिनका गंभीर घोष कंदरों में प्रतिध्वनित हो रहा

है। कहीं भुजगों की स्वास से अग्नि की ज्वाला प्रदीप्त होती है। कहीं बड़े बड़े भारी भीम भयानक अजगर सूर्य की किरणों में घाम लेते हैं, जिनके प्यासे मुखों पर झरनों के झनूके पड़ते हैं, शोभित हैं।

जहाँ की निर्झरनी, जिनके तीर वानीर के भिरे मदकल-कूजित विहंगमों से शोभित हैं, जिनके मूल से स्वच्छ और शीतल जलधारा वहती हैं और जिनके किनारे के श्याम जंबू के निकुंज फलभार से नमित जनाते हैं, शब्दायमान होकर झरती हैं।

जहाँ के गिरिविवर कुहिरे के तिमिर से छाए हैं। इनमें से भालुनी थुत्कार करतीं निकलकर पुष्पों की टट्टियों के बीच प्रतिदिन विचरती दिखाई देती हैं। जहाँ के शल्लकी वृक्षों की छाल में हाथी अपना वदन रगड़ रगड़ खुजली मिटाते हैं और उनमें से निकला चीर सब वन के शीतल समीर को सुरभित करता है।

ये वही गिरि हैं जहाँ मत्तमयूरों का जूथ बरूथ का बरूथ होकर वन को अपनी कुहुक से प्रसन्न करता है, ये वही वन की स्थली हैं जहाँ मत्त हरिण हरिणियों समेत विचरते हैं।

मंजु वंजुल की लता और नील निचुल के निकुंज, जिनके पत्ते ऐसे सघन कि सूर्य की किरनों को भी नहीं निकलने देते, इस नदी के तट पर शोभित हैं। कुंज में तम का पुंज पुंजित है जिसमें श्याम तमाल की शाखा निंब के पीत पत्रों से मिली हैं, रसाल का वृक्ष अपने विशाल हाथों को पिप्पल के चंचल प्रवालों से मिलाता है। कोई लता जंबू से लिपटकर अपनी लहराती हुई

डार को सबसे ऊपर निकालती है। अशोक के ललित पुष्पमय स्तवक झूमते हैं, माधवी तुषार के सदृश पत्रों को दिखलाती है, और अनेक वृक्ष अपनी पुष्पनमित डारों से पुष्प की वृष्टि करते हैं। पवन सुगंध के भार से मंद मंद चलती है, केवल निर्झर का रव सुनाई पड़ता है। कभी कभी कोइल का बोल दूर से सुनाता है और कलरव का कलरव निकट स्थित वृक्ष से सुनाई पड़ता है। ऐसे दंडकारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला, जो नीलोत्पलों की झाड़ी और मनोहर मनोहर पहाड़ी के बीच होकर बहती हैं, कंकगृद्ध नामक पर्वत से निकल अनेक-अनेक दुर्गम, विषम और असम भूमि के ऊपर से बहुत से तीर्थ और नगरों को अपने पुण्यजल से पावन करती पूर्वसमुद्र में गिरती हैं।

इसी नदी के तीर अनेक जंगली गाँव बसे हैं। वहाँ के निवासी वन्य पशुओं की भाँति आचरण करने में कुछ कम नहीं हैं, पर मेरा ग्राम इन सभों से उत्कृष्ट और शिष्ट जनों से पूरित है, इसके नाम ही को सुनकर तुम जानोगे कि वह कैसा ग्राम है। इस पावन अभिराम ग्राम का नाम श्यामापुर है, यहाँ आम के आराम थकित पथिक और पवित्र यात्रियों को विश्राम और आराम देते हैं। यहाँ क्षीरसागर के भगवान् नारायण का मंदिर सुखकंदर इसी गंगा के तट पर विराजमान है। राम, लक्ष्मण और जानकी की मूरतें सजीव सूरतें सी झलकती हैं। ऐसा जान पड़ता है मानों अभी उठी बैठती हों। मंदिर के चारों ओर गौर उपल की छरदिवाली दिवाली की शोभा को लजाती है। मंदिर तो ऐसा जान पड़ता है मानों प्रालेय-पर्वत का कंदर हो। भगवान् रामचंद्र के सन्मुख गरुड़ की सुंदर मूर्ति कर-कमल जोड़े

सेवा की तत्परता सुचाती है। सोने का घंटा सोने ही की साँकर में लटका धर्म के अटका सा झूलता दीन-दुःखी दर्शनियों के खटका को सटकाता है। भटका भटका भी कोई यद्यपि किसी दुःख का झटका खाए हो यहाँ आकर विराम पाता है, और मनोरंजन-दुःखभंजन-खंजनगंजन-विलोल-विलोचनी जनकदुलारी के कृपा-कटाक्ष को देखते ही सब दुःख-दारिद्र छुटाता है।

देवालयों की अवली नदी के तीर में नीर पर परछाहीं फेंकती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि जितने ऊँचे कँगूरों से वह अंबर को छूती है उसी भाँति पाताल की गहराई भी नापती है। जहाँ विचित्र पाठशाला, वाला और वालक-पाठशाला, न्यायाधीश और प्रवंधकों के आगार, वनियों का व्यापार, जिनके द्वारे फूलों के हार टँगे हैं, जहाँ के राजपथों पर व्योपारियों की भीर सदैव गभीर सागर सी वनी रहती है, चित्त पर ऐसा असर करती है जो लिखने के बाहर है।

पुराने टूटे फूटे दिवाले इस ग्राम की प्राचीनता के साक्षी हैं। ग्राम-सीमांत के झाड़, जहाँ झुंड के झुंड कौवे और वकुले वसेरा लेते हैं, गवँई की शोभा वताते हैं। पौ फटते और गोधूली के समय गैयाँ के खिरके की शोभा, जिनके खुरों से उड़ी धूल ऐसी गलियों में छा जाती है मानों कुहिरा गिरता हो।

यहाँ के कोविद भरथरी, गोपीचंदा, भोज, विक्रम (जिसे विकरमाजीत कहते हैं), लोरिक और चदैंनी, मीरावाई, आल्हा, ढोलामारू, हरदौल इत्यादिकों की कथा के रसिक हैं। ये विचारे सीधे-सीधे वुड्ढे जाड़े के दिनों में किसी गरम कौंड़े के चारों ओर पुआल विछा विछा के अपने परिजनों के साथ

युवती और वृद्धा, बालक और बालिका, युवा और वृद्ध सब के सब बैठ कथा कह कह दिन बिताते हैं। कोई पढ़ा लिखा पुरुष रामायण और व्रजविलास की पोथी बाँच कर टेढ़ा मेढ़ा अर्थ कह सभों में चतुर बन जाता है। ठीक है "निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते"। कोई लड़ाई का हाल कहते कहते बेहाल हो जाता है। कोई किसी प्रेम-कहानी को सुन किसी की प्रबल विरह-वेदना को अनुभव कर आँसू भर लेता है। कोई उन्हें मूर्ख ही समझकर हँस देता है, यह भोली कविता भी कैसी होती है। अनुप्रास भी इन ग्रामीणों को सुखद होता है। धानों के खेत, जो गरीबों के धन हैं, इस ग्राम की शोभा बढ़ाते हैं, मेरा इसी ग्राम का जन्म है।

पाँचवीं सुरभि—

(श्री पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी)

प्रस्तुत निबंध में लेखक ने भूमंडल के सभी देशों की दंडव्यवस्था के पुराने रूप एकत्र कर दिए हैं। रुचिभेद के अनुसार जिस प्रकार दंडव्यवस्था के स्वरूपों में भेद दिखाई देता है उसी प्रकार इसके साधनों में भी। ये इस प्रकार के निबंध कभी कभी लिखा करते थे। रूपक का बँधान किसी न किसी रूप में अंत तक चला गया है। जिस प्रकार विषय की सामग्री के विचार से निबंध अत्यंत रोचक हैं उसी प्रकार इसकी शैली भी मोहक है। इतना होने पर भी लेखक ने प्रकृत गंभीरता को बनाए रखा है। वाक्यों के विन्यास का चलता ढंग, शब्दों का सम्यक् विधान और प्रतिपादन की विशिष्ट पद्धति ऐसे गुण हैं जिनसे निबंध कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हो गया है।

दंडदेव का आत्मनिवेदन

हमारा नाम दंडदेव है। पर हमारे जन्मदाता का कुछ भी पता नहीं। कोई कहता है कि हमारे पिता का नाम वंश या बाँस है। कोई कहता है, नहीं; हमारे पूज्यपाद पितृ-महाशय का नाम काष्ठ है। इसमें भी किसी-किसी का मतभेद है; क्योंकि कुछ लोगों का अनुमान है कि हमारे पिता का नाम वेंत है। इसी से हम कहते हैं कि हमारे जन्मदाता का नाम निश्चयपूर्वक कोई नहीं बता सकता। हम भी नहीं बता सकते। सबके गर्भधारिणी माता होती हैं; हमारे वह भी नहीं। हम तो जमींतोड़ हैं। यदि माता होती तो उससे पिता का नाम पूछकर आप पर अवश्य ही प्रकट कर देते। पर क्या करें; मजबूरी है। न बाप न माँ, अपनी हुलिया यदि हम लिखाना चाहें तो कैसे लिखावें। इस कारण हम सिर्फ अपना ही नाम बता सकते हैं।

हम राजराजेश्वर के हाथ से लेकर दीन-दुर्बल भिखारी तक के हाथ में विराजमान रहते हैं। जराजीर्ण के तो एकमात्र अवलंब हमीं हैं। हम इतने समदर्शी हैं कि इसमें भेदज्ञान जरा भी नहीं। धार्मिक-अधार्मिक, साधु-असाधु, काले-गोरे सभी का पाणिस्पर्श हम करते हैं। यों तो हम सभी जगह रहते हैं, परन्तु अदालतों और स्कूलों में हमारी तूती बोलती है। वहाँ हमारा अनवरत आदर होता है।

संसार में अवतार लेने का हमारा उद्देश्य दुष्ट मनुष्यों और दुर्वृत्त बालकों का शासन करना है। यदि हम अवतार न लेते तो ये लोग उच्छृंखल होकर मही-मंडल में सर्वत्र अराज-

कता उत्पन्न कर देते। दुष्ट हमें बुरा बताते हैं, हमारी निंदा करते हैं, हमपर झूठे-झूठे आरोप करते हैं। परंतु हम उनकी कटूक्तियों और अभिशापों की जरा भी परवाह नहीं करते। बात यह है कि उनकी उन्नति के पथप्रदर्शक हमीं हैं। यदि हमीं उनसे रूठ जायँ तो वे लोग दिनदहाड़े मार्गभ्रष्ट हुए बिना न रहें।

विलायत के प्रसिद्ध पंडित जानसन साहब को आप शायद जानते होंगे। ये वही महाशय हैं जिन्होंने एक बहुत बड़ा कोश अँगरेजी में लिखा है और विलायती कवियों के जीवन-चरित्र बड़ी-बड़ी तीन जिल्दों में भरकर चरित्ररूपिणी त्रिपथगा प्रवाहित की है। एक दफे यही जानसन साहब कुछ भद्र महिलाओं का मधुर और मनोहर व्यवहार देखकर बड़े प्रसन्न हुए। इस सुंदर व्यवहार की उत्पत्ति का कारण खोजने पर उन्हें मालूम हुआ कि इन महिलाओं ने अपनी-अपनी माताओं के कठिन शासन की कृपा ही से ऐसा भद्रोचित व्यवहार सीखा है। इसपर उनके मुँह से सहसा निकल पड़ा—

'राड, आइ विल आनर दी फार दिस दाइ ड्यूटी'

अर्थात् हे दंड, तेरे इस कर्तव्यपालन का मैं अत्यधिक आदर करता हूँ। जानसन साहब की इस उक्ति का मूल्य आप कम न समझिए। सचमुच ही हम बहुत बड़े सम्मान के पात्र हैं। क्योंकि हमीं तुम लोगों के—मानवजाति के—भाग्य-विधाता और नियंता हैं। ....।

संसार की सृष्टि करते समय परमेश्वर को मानव-हृदय में एक उपदेष्टा के निवास की योजना करनी पड़ी थी, उसका

नाम है विवेक। इस विवेक के ही अनुरोध से मानव-जाति, पाप से धरपकड़ करती हुई, आज इस उन्नत अवस्था को प्राप्त हुई है। इसी विवेक की प्रेरणा से मनुष्य अपनी आदिम अवस्था में हमारी सहायता से पापियों और अपराधियों का शासन करते थे। शासन का प्रथम आविष्कृत अस्त्र, दंड, हमीं थे। परंतु कालक्रम से हम अब नाना प्रकार के उपयोगी आकारों में परिणत हो गए हैं। हमारी प्रयोग-प्रणाली में भी अब बहुत कुछ उन्नति, सुधार और रूपांतर हो गया है।

पचास साठ वर्ष के भीतर इस संसार में बड़ा परिवर्तन, बहुत उथल-पुथल हो गया है। उसके बहुत पहले भी, इस विशाल जगत् में हमारा राजत्व था। उस समय रूस में, आजकल ही की तरह, मार-काट जारी थी। पोलैंड में यद्यपि इस समय हमारी कम चाह है, पर उस समय वहाँ की स्त्रियों पर रूसी सिपाही मनमाना अत्याचार करते थे और बार-बार हमारी सहायता लेते थे। चीन में तब भी वंश-दंड का अटल राज्य था। टर्की में तब भी दंड चलते थे। श्यामवासियों की पूजा तब भी लाठी से की जाती थी। अफरीका से तब भी मंबों-जंबों (गैंड़े की खाल का हंटर) अंतर्हित न हुआ था। उस समय भी वयस्का भद्रमहिलाओं पर चाबुक चलता था। पचास साठ वर्ष पहले, संसार में, जिस दंडशक्ति का निष्कंटक साम्राज्य था, यह न समझना कि उसका तिरोभाव हो गया है। प्राचीन काल की तरह अब भी सर्वत्र हमारा प्रभाव जागरूक है। इशारे के तौर पर हम जर्मनी के हर प्रांत में वर्तमान अपनी अखंड सत्ता का स्मरण दिलाए देते हैं। परंतु वर्तमान वृत्तांत सुनने की अपेक्षा

पहले हम अपना पुराना वृत्तांत सुना देना ही अच्छा समझते हैं।

प्राचीन काल में रोम-राज्य योरप की नाक समझा जाता था। दंडदान या दंडविधान में रोम ने कितनी उन्नति की थी, यह बात शायद सब लोग नहीं जानते। उस समय हम तीन भाई थे। रोमवाले साधारण दंड के बदले कशादंड (हंटर या कोड़े) का उपयोग करते थे। इसी कशादड के तारतम्य के अनुसार हमारे भिन्न-भिन्न तीन नाम थे। इनमें सबसे बड़े का नाम फ्फैगेलम, मँझले का सेंटिका और छोटे का फेरूला था। रोम के न्यायालय और वहाँ की महिलाओं के कमरे हम इन्हीं तीन भाइयों से सुसज्जित रहते थे। अपराधियों पर न्यायाधीशों की असीम क्षमता और प्रभुता थी। अनेक बार प्रभु या प्रभुपत्नियाँ, दया के वशवर्ती होकर, हमारी सहायता से अपने दासों के दुःखमय जीवन का अंत कर देती थीं। भोजन के समय आमंत्रित लोगों को प्रसन्न करने के लिए दासों पर कशाघात करने की पूर्ण व्यवस्था थी। दासियों को तो एक प्रकार से नंगी ही रहना पड़ता था। वस्त्राच्छादित रहने से वे शायद कशाघातों का स्वाद अच्छी तरह न ले सकें, इसी-लिए ऐसी व्यवस्था थी। यहीं पर तुम हमारे प्रभाव का कहीं अन्त न समझ लेना। दासियों को एक और भी उपाय से दंड दिया जाता था। छत की कड़ियों से उनके लंबे-लंबे बाल बाँध दिए जाते थे। छत से लटक जाने पर उनके पैरों से कोई भारी चीज बाँध दी जाती थी, ताकि वे पैर न हिला सकें। यह प्रबंध हो चुकने पर उनके अंगों की परीक्षा करने के लिए हमारी योजना होती थी। यह सुनकर शायद तुम्हारा दिल दहल उठा होगा और तुम्हारा बदन काँपने लगा होगा। पर हम तो बड़े ही प्रसन्न

हैं। ऐसा ही दंड दासों को भी दिया जाता था। परंतु वालों के बदले उनके हाथ बाँध दिए जाते थे।

इससे तुम समझ गए होगे कि रोम की महिलाएँ हमारा कितना आदर करती थीं। परंतु यह बात वहाँ के कर्तृपक्ष को असह्य हो उठी। उन्होंने कहा—इस दंडदेव का इतना आदर! उन्होंने हमारी इस उपयोगिता में विघ्न डालने के लिए कई कानून बना डाले। सम्राट् आड्रियन के राजत्वकाल में इस कानून को तोड़ने के अपराध में एक महिला को पाँच वर्ष का देश-निर्वासन दंड मिला था। अस्तु।

अब हम जर्मनी, फ्रांस, रूस, अमेरिका आदि का कुछ हाल सुनाते हैं। ध्यान लगाकर सुनिए। इन सब देशों के घरों, स्कूलों और अदालतों में भी पहले हमारा निश्चल राज्य था। संस्कार-घरों (हाउस आफ करेक्शन) में भी हमारी षोड-शोपचार पूजा होती थी। इन संस्कार-घरों अथवा चरित्र-सुधार-घरों में चरित्र और व्यवहार-विषयक दोषों का सुधार किया जाता था। अभिभावक-जन अपनी दुश्चरित्र स्त्रियों और अधी-नस्थ पुरुषों को इन घरों में भेज देते थे। वहाँ वे हमारी ही सहायता—हमारे ही आघात—से सुधारे जाते थे।

जर्मनी में तो हम पहले अनेक रूपों में विद्यमान थे। हमारे रूप थे कशादंड, वेत्रदंड, चर्मदंड आदि। कोतवालों और न्याया-धीशों को कशाघात करने के अखतियारात हासिल थे। संस्कार-घरों में हतभागिनी नारियों की संख्या अधिक होती थी। वहाँ बहुधा निरपराधिनी रमणियों को भी दुष्टों के फंदे में फँसकर कशाघात सहने पड़ते थे। पहले वे नंगी कर डाली जाती थीं। तब उनपर बेंत पड़ते थे। जर्मन-भाषा के ग्रंथ-साहित्य में इस कशाघात का उल्लेख सैकड़ों जगह पाया जाता है।

फ्रांस में भी हमने मनमाना राज्य किया है। वहाँ के विद्यालयों में किसी समय, हमारा बड़ा प्रभाव था। विद्यालयों में कोमलकलेवरा बालिकाओं को भी हमें चूमना पड़ता था। यहाँ तक कि उन्हें हमारा प्रयोग करनेवालों का अभिवादन करना पड़ता था। फ्रांस में तो हमने पवित्र-हृदया कामिनियों के कर-कमलों को भी पवित्र किया था। आपको इस बात का विश्वास न हो तो एक प्रमाण लीजिए। "रोमन-डि-लारोज" नामक काव्य में कविवर क्लपिनेले ने स्त्रियों के विरुद्ध चार सतरें लिख मारी हैं। उनका भावार्थ कवि पोप के शब्दों में—एवरी वमन इज़ एट हार्ट ए रेक" इस उक्ति को सुनकर कुछ संमाननीय महिलाएँ बेतरह कुपित हो उठीं। एक दिन उन्होंने कवि को अपने कब्जे में पाकर उसे सुधारना चाहा। तब यह देखकर कि इनके पंजे से निकल भागना असंभव है, कवि ने कहा—"मैंने जरूर अपराध किया है, अतएव मुझे सजा भोगने में कुछ भी उज्र नहीं। पर मेरी एक प्रार्थना है। वह यह कि उस उक्ति को पढ़कर जिस महिला को सबसे अधिक बुरा लगा हो वही मुझे पहले दंड दे।" इसका फैसला कोई स्त्री न कर सकी। फल यह हुआ कि कवि पिटने से बच गया।

रूस में भी हमारा आधिपत्य रह चुका है। वहाँ तो सभी प्रकार के अपराध करने पर साधारण दंड या कशादंड से प्रायश्चित्त कराया जाता था। क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बालक, क्या राजकर्मचारी, क्या साधारण जन, सभी को—अपराध करने पर—हमारा अनुग्रह ग्रहण करना पड़ता था। किसान तो हमारी कृपा से सबसे अधिक पात्र थे। उन पर तो, जो चाहता था वही, निःशंक और निःसंकोच, हमारा प्रयोग करता था। हमारा प्रसाद पाकर वे बेचारे चुपचाप चल देते थे और अपना क्रोध

अपनी पत्नियों और पशुओं पर प्रकट करते थे। रूस के अमीरों और धनवानों से हमारी बड़ी ही गहरी मित्रता थी। दोष-दमन करने में वे सिवा हमारे और किसी की भी सहायता कभी भूलकर भी, न लेते थे। उनका खयाल था कि अपराधियों को अधमरा करने के लिए ही भगवान् ने हमारी सृष्टि की है।

रूस में तो, पूर्व कालों में, दंडाघात प्रेम का भी चिह्न माना जाता था। विवाहिता वधुएँ अपने पतियों से हमीं को पाने के लिए सदा लालायित रहती थीं। यदि स्वामी, बीच-बीच में, अपनी पत्नी का दंडदान नामक आदर न करता तो पत्नी समझती थी कि उसके स्वामी का प्रेम उस पर कम होता जा रहा है। यह प्रथा केवल नीच या छोटे लोगों ही में प्रचलित न थी, बड़े बड़े घरों में भी इसका पूरा प्रचार था। वर्कले नाम के लेखक ने लिखा है कि रूस में दंडाघातों की न्यूनाधिक संख्या ही से प्रेम की न्यूनाधिकता की माप होती थी। इसके सिवा स्नानागारों में भी हमारा प्रबल प्रताप छाया हुआ था। स्नान करनेवालों का समस्त शरीर ही हमारे अनुग्रह का पात्र बनाया जाता था। स्टिफेंस साहब ने इसका विस्तृत विवरण लिख रखा है। विश्वास न हो तो उनकी पुस्तक देख लीजिए।

हमारे संबंध में तुम अमेरिका को पिछड़ा हुआ कहीं मत समझ बैठना। वहाँ भी हमारा कम प्रभाव न था। बालकों और बालिकाओं का गार्हस्थ्य जीवन यहाँ हमारे ही द्वारा नियंत्रित होता था। प्यूरिटन नाम के क्रिश्चियन धर्म-संप्रदाय के अनुयायियों के प्रभुत्व के समय लोगों को बात बात में कशाघात की शरण लेनी पड़ती थी। क्वेकर-संप्रदाय को देश से दूर निकालने में अमेरिका के निवासियों ने हमारी खूब सहायता ली थी। हमारा प्रयोग बड़े ही अच्छे ढंग से किया जाता था।

काठ के तख्ते पर अपराधी बाँध दिया जाता था। फिर उस पर सड़ासड़ बेंत पड़ते थे।

अफरीका की तो कुछ पूछिए नहीं। वहाँ तो पहले भी हमारा अखंड राज्य था और अब भी है। यही एक देश ऐसा है जिसने हमारे महत्त्व को पूर्णतया पहचान पाया है। बच्चों की शिक्षा से तो हमारा बहुत ही घनिष्ठ संबंध था। वहाँ के लोगों का विश्वास था कि हमारा आगमन स्वर्ग से हुआ है और हम ईश्वर के आशीर्वाद-रूप हैं। हम नहीं, तो समझना चाहिए कि परमेश्वर ही रूठा है। मिस्रवाले तो इस प्रवाद पर आँख-कान बंद करके विश्वास करते थे। वहाँ के दीन-वत्सल महीपाल प्रजावर्ग को इस आशीर्वाद का स्वाद बहुधा चखाया करते थे। इस राज्य में बिना हमारी सहायता के राजकर वसूल होना प्रायः असंभव था। मिस्र के निवासी राजा का प्राप्य अंश कर अदा करना न चाहते थे। इस कारण हमें उन पर सदा ही कृपा करनी पड़ती थी। उनकी पीठ पर हमारे जितने ही अधिक चिह्न बन जाते थे वे अपने को उतने ही अधिक कृतज्ञ या कृतार्थ समझते थे।

अफरीका की असभ्य जातियों में स्त्रियों के ऊपर हमारा बड़ा प्रकोप रहता था। ज्यों ही स्वामी अपनी स्त्री के सतीत्व-रत्न को जाते देखता था त्यों ही वह हमारी पूर्ण तृप्ति करके उस कुल-कलंकिनी को घर से निकाल बाहर करता था। कभी कभी स्त्रियाँ भी हमारी सहायता से अपने अपने स्वामियों की यथेष्ट खबर लेती थीं। अफरीका के पश्चिमी प्रांतों में यद्यपि बालक-बालिकाओं पर हमारा विशेष प्रभाव न था तथापि उन्हें हमसे भी अधिक प्रभावशाली व्यक्तियों का सामना करना पड़ता था। नटखट और दुष्ट लड़कों और लड़कियों की आँखों

में लाल मिर्च मल दी जाती थी। वे बेचारे इस योजना का कष्ट सहन करने में असमर्थ होकर घंटों छटपटाते और चिल्लाते थे। वयस्कों को तो इससे भी अधिक यातनाएँ भोगनी पड़ती थीं। ये पहिले पेड़ों की डालों से लटका दिए जाते थे। फिर वे खूब पीटे जाते थे। देह लोहू-लोहान हो जाने पर उस पर सर्वत्र लाल मिर्च का चूर्ण मला जाता था। याद रहे, ये सब पुरानी बातें हैं। आजकल की बातें हम नहीं कहते, क्योंकि हमारे प्रयोग में यद्यपि इस समय कुछ परिवर्तन हो गया है, तथापि हमारा कार्यक्षेत्र घटा ही नहीं, बढ़ा भी है।

तुम्हारे एशिया-खंड में भी हमारा राज्य दूर दूर तक फैला रहा है। एशिया कोचक (एशिया माइनर) के यहूदियों में, किसी समय, हमारी बड़ी धाक थी। वहाँ हमारा प्रताप बहुत ही प्रबल था। ईसाई धर्म फैलाने में सेंट पाल नामक धर्माचार्य ने बड़े-बड़े अत्याचार सहे हैं। वे ४६ दफे कशाहत और ३ दफे दंडाहत हुए थे। बाइबिल में हमारे प्रयोग का उल्लेख सैकड़ों जगह आया है।

यहूदियों की तरह पारसियों में हमारा विशेष आदर था। क्या धनी, क्या निर्धन, सभी को—यदा कदा—दंडों की मार सहनी पड़ती थी। यह चाल बहुत दिनों तक जारी रही। तदनंतर वह बदल गई। तब माननीय मनुष्यों के शरीर की जगह कपड़ों पर कोड़े लगाए जाने लगे।

चीन में तो हमारा आधिपत्य एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक फैला हुआ था। ऐसा एक भी अपराधी न था जिसे सजा देने में हमारा प्रयोग न होता रहा हो। उच्च कर्मचारियों से लेकर दीन-दुखी भिखारियों तक को, अपराध करने पर हमारे अनुग्रह का अनुभव प्रत्यक्ष रूप से करना पड़ता था। दंड की

मार खाने में उस समय चीनी लोग अपना अपमान न समझते थे। हाँ, हमारे कृपा-कटाक्ष से उन्हें जो यंत्रणा भोगनी पड़ती थी उसे वे जरूर नापसंद करते थे। बड़े बड़े सेनानायक और प्रांत-शासक हमारे कठोर अनुग्रह को प्राप्त करके भी अपने उच्च पदों पर प्रतिष्ठित रहते थे। चीन में अपराधियों ही तक हमारे कोप की सीमा बद्ध न थी। कितने ही निरपराध जन भी हमारे स्पर्श-सुख का अनुभव करके ऐसे गद्गद हो जाते थे कि फिर जगह से उठ तक न सकते थे। हमारी पहुँच बहुत दूर दूर तक थी। चोरों, डाकुओं और हत्यारों आदि को जब कोतवाल और पुलिस के अन्य प्रतापी अफसर न पकड़ सकते थे तब वे हमारी शरण आते थे। उस समय हम उन पर ऐसा प्रेम दरसाते थे कि उछल उछल कर उनकी देह पर जा पड़ते थे। चीन की पुरानी अदालतों में कितने अभियुक्त और गवाह आते थे, वे बहुधा बिना हमारा प्रसाद पाए न लौट सकते थे।

चतुर और चाणाक्ष चीन के अद्भुत कानून की बात कुछ न पूछिए। वहाँ अपराध के लिए अपराधी ही जिम्मेदार नहीं। उसके दूर तक के संबंधी भी जिम्मेदार समझे जाते थे। जो लोग इस जिम्मेदारी का खयाल न करते थे उन्हें स्वयं हम पुरस्कार देते थे। चीन में एक सौ परिवारों के पीछे एक मंडल की स्थापना होती थी। उसकी जिम्मेदारी भी कम न होती थी। अपने फिरके के सौ कुटुंबों का, यदि कोई व्यक्ति, कोई अपराध करता तो उसके बदले में मंडल सजा पाता था। देश-सेवा के लिए रखे गए शूकर-शावक यदि बीमार या दुबले हो जाते तो प्रति शावक के लिए तत्वावधायक पर ५० डंडे लगते थे।

चीन की विवाह विधि में भी हमारी विशेष प्रतिपत्ति थी। पुत्र-कन्या संमति लिए बिना ही उनका पहला पाणिग्रहण कराने

का अधिकार माता-पिता को प्राप्त था। परंतु दूसरा विवाह वे न करा सकते थे। यदि वे इस नियम का उल्लंघन करते तो उन पर तड़ातड़ ८० डंडे पड़ते थे। विवाह-संबंध स्थिर करके यदि कन्या का पिता उसका विवाह किसी और वर के साथ कर देता तो उसे भी डंडे खाने पड़ते। जो लोग अशौच-काल में विवाह कर लेते थे उनकी पूजा पूरे एक सौ दंडाघातों से की जाती थी। स्वामी के जीवन-काल ही में जो रमणियाँ सम्राट् द्वारा संमानित होतीं, वे विधवा होने पर, पुनर्विवाह न कर सकती थीं। यदि कोई अभागिनी इस कानून को तोड़ती तो उसे पुरस्कृत करने के लिए हमें सौ बार उसके कोमल कलेवर का चुंबन करना पड़ता।

ये पुरानी बातें हैं। अपना नया हाल सुनाना हमारे लिए इस छोटे से लेख में, असंभव है। अब यद्यपि हमारे उपचार के ढंग बदल गए हैं और हमारा अधिकार क्षेत्र कहीं कहीं संकुचित हो गया है, तथापि हमारी पहुँच नई नई जगहों में हो गई है। आजकल हमारा आधिपत्य केनिया, ट्रांस्वाल, केप कालनी आदि विलायतों में सबसे अधिक है। वहाँ के गोरे कृषक हमारी ही सहायता से हबशी और भारतवर्षीय कुलियों से बारह बारह, सोलह सोलह घंटे काम कराते हैं। वहाँ काम करते करते, हमारा प्रसाद पाकर, अनेक सौभाग्यशाली कुली, समय के पहले ही, स्वर्ग सिधार जाते हैं। फीजी, जमाइका, गायना, मारिशस आदि टापुओं में भी हम खूब फूल-फल रहे हैं। जीते रहें गन्ने की खेती करनेवाले गौरकाय विदेशी। वे हमारा अत्यधिक आदर करते हैं; कभी अपने हाथ से हमें अलग नहीं करते। उनकी बदौलत ही हम भारतीय कुलियों की पीठ, पेट, हाथ आदि अंग-प्रत्यंग छू छूकर कृतार्थ हुआ करते हैं—अथवा कहना चाहिए कि हम नहीं, हमारे स्पर्श से वही अपने को

कृतकृत्य मानते हैं। अंडमन टापू के कैदियों पर भी हम बहुधा जोर-अजमाई करते हैं। इधर भारत के जेलों में भी, कुछ समय से, हमारी विशेष पूछ-पाछ होने लगी है। यहाँ तक कि एम० ए० और बी० ए० पास कैदी भी हमारे संस्पर्श से अपना परित्राण नहीं कर सकते। कितने ही असहयोगी कैदियों की अक्ल हमीं ने ठिकाने लगाई है।

हम और सब कहीं की बातें तो बता गए, पर इँगलैंड के समाचार हमने कहीं भी नहीं सुनाए। भूल हो गई। क्षमा कीजिए। खैर, तब न सही, अब सही। सूद में अब हम भारतवर्ष का भी कुछ हाल सुना देंगे। सुनिए—

लक्ष्मी और सरस्वती की विशेष कृपा होने से इँगलैंड अब उन्नत और सभ्य हो गया है। ये दोनों ठहरीं स्त्रियाँ। और स्त्रियाँ बलवानों ही को अधिक चाहती हैं, निर्बलों को नहीं। सो बलवान होना बहुत बड़ी बात है। सभ्यता और उन्नति का विशेष आधार पशुबल ही है। हमारी इस युक्ति को सच समझिए और गाँठ में मजबूत बाँधिए। सो सभ्य और समुन्नत होने के कारण इँगलैंड में अब हमारा आदर कम होता जाता है। तिस पर भी कशादंड का प्रचार वहाँ अब भी खूब है। कोड़े वहाँ अब भी खूब बरसते हैं। वहाँ के विद्यालयों में हमारी इस मूर्ति की पूजा बड़े भक्ति-भाव से होती है। हमारा प्रभाव घोड़े की पीठ पर जितना देखा जाता है उतना अन्यत्र नहीं। इसके सिवा सेना में भी हमारा सम्मान अभी तक थोड़ा-बहुत बना हुआ है।

भारतवर्ष में तो हमारा एकाधिपत्य ही सा है। भारत अपाहिज है। इसलिए भारतवासी हमारी मूर्ति को बड़े आदर से अपनी छाती से लगाए रहते हैं। वे डरते हैं कि ऐसा न हो

जो कहीं धन-मान की रक्षा का एकमात्र बचा खुचा यह साधन भी छिन जाय। इसी से हम पर उन लोगों का असीम प्रेम है। भारतवासी असभ्य और अनुन्नत होने पर भी विलासप्रिय कम हैं। इसीलिए वे ऋषियों और मुनियों द्वारा पूजित हम दंडदेव के आश्रय में रहना श्रेयस्कर समझते हैं। शिक्षकों का बेत या कमची, सवारों का हंटर, कोचमैनों का चाबुक, गाड़ीवानों की औंगी या छड़ी, शुहदों के लट्ठ, शौकीन बाबुओं की पहाड़ी लकड़ी, पुलिसमैनों के डंडे, बूढ़े बाबा की कुबड़ी, भँगेड़ियों के भवानीदीन और लठैतों की लाठियाँ आदि सब क्या हैं? ये सब हमारे ही तो रूप हैं। ये सभी शासन-कार्य में सहायक होते हैं। भारत में ऐसे हजारों आदमी हैं जिनकी जीविका का आधार एकमात्र हम हैं। थाना नाम के देवस्थानों में हमारी ही पूजा होती है। हमारी कृपा और सहायता के विना हमारे पुजारी (पुलिसमैन) एक दिन भी अपना कर्तव्यपालन नहीं कर सकते। भारत में तो एक भी पहले दरजे का मैजिस्ट्रेट ऐसा न होगा जिसकी अदालत के अहाते में हमारे उपयोग की योजना का पूरा-पूरा प्रबन्ध न हो। जेलों में भी हमारी शुश्रूषा सर्वदा हुआ करती है। इसी से हम कहते हैं कि भारत में तो हमारा एकाधिपत्य है।

पाठक, हम नहीं कह सकते कि हमारा यह चारु चरित सुनकर आप भी मुग्ध हुए या नहीं। कुछ भी हो, हमने अपना कर्तव्य कर दिया। आप प्रसन्न हों या न हों, पर इससे हम कितने प्रसन्न हैं, यह हम लिख नहीं सकते।

—

छठी सुरभि--

(श्री पं० माधवप्रसाद मिश्र)

प्रस्तुत निबंध में केवल एक वाक्य लेकर लेखक ने जो भावधारा बहाई है उसमें संस्कृति और साहित्य का अद्भुत मिश्रण है। पृथ्वी तत्त्व के द्विधा रूप को स्पष्ट करने का बड़ा ही भावमय ढंग ग्रहण किया गया है। बुद्धि द्वारा उपस्थित तर्क और हृदय द्वारा प्रेरित भाव दोनों का समावेश होने से निबंध में 'साहित्य' का अच्छा चमत्कार दिखाई देता है। मिश्रजी की शैली गंभीर है, उसमें चपलता नहीं है। विनोदवृत्ति का वैसा योग न होने पर भी सजीवता है। वह वचन-वक्रता भी पाई जाती है जो आत्मव्यंजक निबंधों का प्राण है और जो है 'काव्यजीवितम्'।

सब मिट्टी हो गया !

"चाचा ! चाचा ! सब मिट्टी हो गया ! जो खिलौना आप दिल्ली से लाए थे, उसे श्रीधर ने तोड़-फोड़कर मिट्टी कर दिया !"

एक दिन मैं अपने घर में अकेला बैठा दिल्ली के भारतधर्म महामंडल का "मंतव्य"-पत्र पढ़ रहा था। मेरा ध्यान उसमें ऐसा लग रहा था, कि मानों कोई उपासक अपने उपास्य का साक्षात्कार कर रहा हो।

आँख उठाकर देखा तो सामने छः वर्ष के बालक हरदयाल को पाया। हरदयाल मेरे बड़े भाई का बड़ा लड़का है। इस समय वह अपने छोटे भाई की शिकायत कर रहा है। यह देखकर मुझे बड़ी हँसी आई कि खिलौना फूट गया है, इसलिए बालक हरदयाल ने 'सब मिट्टी हो गया' इत्यादि वाक्यावली से भूमिका बनाकर अपने छोटे भाई श्रीधर के नाम अभियोग खड़ा किया है। इस समय हँसकर मैं एक बात भी कहना चाहता था, किन्तु यह सोचकर चुप रह गया, कि ऐसा करने से कहीं बालक की ढीठता को सहारा न मिले और धमकाना इसलिए उचित नहीं समझा कि मनमौजी बालकों के आनंद में विघ्न करने से क्या मतलब। खैर, दोनों प्रकार की व्यवस्था से मन हटाकर हरदयाल से कहा,—"श्रीधर बहुत बिगड़ गया है, उसको आज पीछे कोई खिलौना न देंगे।" हरदयाल अपनी इच्छानुकूल उत्तर पाकर बहुत प्रसन्न हुआ और हँसता हुआ श्रीधर को यह संवाद सुनाने दौड़ता गया।

घर फिर निस्तब्ध हो गया, किंतु अंतःकरण निस्तब्ध नहीं हुआ। 'सब मिट्टी हो गया है इस बात ने मन में एक दर्द पैदा कर दिया। अच्छा, मैं बालक को हँसकर क्या कहा चाहता था, वह तो सुन लीजिए। कहा चाहता था, जब वस्तु मिट्टी की है, तो मिट्टी हुई किस प्रकार ?' जो हो, वह बात तो हो चुकी। अब सोचने लगा, कि जो नष्ट वा निकम्मा हो जाता है, उसी का नाम है मिट्टी होना। क्या आश्चर्य है ! मिट्टी के घर को कोई मिट्टी नहीं कहता, किंतु घर के गिर जाने से लोग कहते हैं कि,—'घर मिट्टी हो गया !' हमारा यह मकान, सब मिट्टी का बना हुआ है। दीवारें तो मिट्टी की हैं ही, पर ईंटें भी केवल पकी हुई मिट्टी के सिवा और क्या हैं ? पर अब किसी से पूछिए कोई इसे मिट्टी नहीं कहेगा, गिर जाने पर सब कहेंगे कि 'मकान मिट्टी हो गया।'

लोग केवल घर ही के नष्ट होने पर 'मिट्टी हो गया' नहीं कहते हैं, और और जगह भी इसका प्रयोग करते हैं। किसी का बड़ा भारी परिश्रम जब विफल हो जाय, तब कहेंगे कि 'सब मिट्टी हो गया।' किसी का धन खो जाय, मान-मर्यादा भंग हो जाय, प्रभुता और क्षमता चली जाय तो कहेंगे,—'सब मिट्टी हो गया।' इससे जाना गया कि नष्ट होना ही मिट्टी होना है। किंतु मिट्टी को इतना बदनाम क्यों किया जाता है ? किसी वस्तु के नष्ट होने पर केवल मिट्टी ही तो नहीं होती। मिट्टी होती है, जल होता है, अग्नि होती है, वायु और आकाश भी होता है। फिर अकेली मिट्टी ही इस दुर्नाम को क्यों धारण करती है ? यदि किसी की जिनिस अच्छे भाव पर बिकती नहीं है, तो कहेंगे—"मिट्टी की दर पर माल जा रहा है।" वह माल राख के बराबर कितना ही निकम्मा, कितना ही बुरा क्यों न हो,

निकृष्ट और अगौरव के स्थल पर तुरंत उसकी मिट्टी के साथ तुलना होती है ! क्या सचमुच, मिट्टी इतनी निकृष्ट है ? और क्या केवल मिट्टी ही निकृष्ट है और हम कुछ निकृष्ट नहीं हैं ? भगवती वसुंधरे ! तुम्हारा 'सर्वंसहा' नाम व्यर्थ नहीं है !

अच्छा, मा ! यह तो कहो तुम्हारा नाम 'वसुंधरा' किसने रखा ? यह नाम तो उस समय का नाम है। मालूम होता है, यह नाम व्यास, वाल्मीकि, पाणिनि, कात्यायन आदि सुसंतान का दिया हुआ है ? केवल यही नाम क्यों ? वसुंधरा, वसुमती, वसुधा, विश्वंभरा प्रभृति कितने ही आदर के और भी अनेक नाम हैं। जाने वे तुम्हारे सुपुत्र कितने आदर से, कितनी श्लाघा से और कितनी श्रद्धा से तुम्हें पुकारते थे। क्यों माता, ऐसा धन तुम्हारे पास क्या धरा है, जिससे तुम वसुंधरा, वसुधा के नाम से विख्यात हो ? मा ! कुछ तो है, जिससे इस दुर्दिन के घोर अंधकार में भी तुम्हारे मुख पर उजाला हो रहा है।

जिन सत्पुत्रों ने तुम्हारे ये नाम रखे हैं, वे ही तो श्रेष्ठ रत्न हैं। व्यास, वाल्मीकि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, कपिल, कणाद, जैमिनि, गौतम, इनकी अपेक्षा और कौन रत्न हैं ? मा ! भीष्म, द्रोण, बलि, दधीचि, शिबि, हरिश्चंद्र, इनके सदृश रत्न और कहाँ हैं ? अनुसूया, अरुंधती, सीता, सावित्री, सती, दमयंती, इनके तुल्य रत्न और कहाँ मिल सकते हैं ? हम लोग अकृतज्ञ हैं, सब भूल गए। अब हमें उनका स्मरण ही नहीं। मानों वे एक बार ही लोप हो गए हैं। यदि कहीं लीन हुए होंगे तो वे तुम्हारे ही अंग में लीन हुए हैं। जननी ! जरा देखें तो सही, तुम्हारे किस अंग में लीन हुए हैं ? मा ! वह तेज, वह प्रतिभा, कहाँ समा सकती है ? मा ! आकाश के चंद्र-सूर्य क्या मिट्टी में

सो रहे हैं ? मा ! एक बार तो अभागी संतान को उनके दर्शन कराओ !

देखें मा ! उस कुरुक्षेत्र में कितनी कठोर मृत्तिका हो गई ! भीष्मदेव का पतनक्षेत्र किन पाषाणों में परिणत हो गया ! कपिल, गौतम की शेषशय्या का कितना ऊँचा आकार हो रहा है ! उज्जयिनी की विजयिनी भूमि में कैसी मधुमयी धारा चल रही है ! अहा ! अहा ! तुम्हारे अंग में किस प्रकार पादस्पर्श करें ? मा ! तुम्हारे प्रत्येक परमाणु में जो रत्न के कण हैं, वे अमूल्य हैं, क्षयरहित हैं और अतुल हैं ।

जगदंबा सती के पादस्पर्श से जो मृत्तिका पवित्र हुई है, पतिनिंदा को सुनकर जहाँ सती का शरीर धरती में मिला है, वे क्षेत्र सभी तो वर्तमान हैं। मा ! फिर पैर कहाँ रखा जाय ? वृंदावन-विपिन में अभी भी तो वंशी बज रही है। मा ! किस सहृदय के, किस सचेतन के कान में वह वंशी नहीं बजती ? अब तक भी यमुना का कृष्ण जल है, मा ! वियोगिनी व्रजबालाओं की कज्जलाक्त अश्रुधारा का यह माहात्म्य है ! गृहत्यागिनी प्रेमोन्मादिनी राधिका की अनंत प्रेमधारा ही मानों यमुना के 'कल-कल' शब्द के व्याज से 'हा ! कृष्ण ! हा कृष्ण !' पुकारकर इस धारा को सजीव कर रही है। अभागिनी जनकतनया की दंडकारण्य-विदारी हाहाकार-ध्वनि यह देख, भवभूति के भवनपार्श्व-वाहिनी गोदावरी के गद्गद नाद में अच्छी तरह सुन पड़ती है। 1950

[और उस अभागिनी तापसकन्या शकुंतला ने, जो कुछ दिन के लिए राजरानी हुई थी एवं अंत में उस राजराजेश्वर पति से अपमानित, उपहसित होकर परित्यक्त दशा में पालक पिता के शिष्यों से रूखे और मर्मभेदी शब्दों से धमकाई और त्यागी

जाकर कहीं भी आश्रय न पा, कुररी की तरह, विकल कंठ से जो तुमसे कहा था,—'भगवति वसुंधरे! देहि मे अंतरम्' वह आज भी कानों में गूँज रहा है, मा! वह शब्द अब भी हृदय को व्यथित कर रहा है।]

मा! तुम्हारे रत्न कहाँ नहीं हैं, किस रेणु में तुम्हारे रत्न नहीं हैं?

"कोटि कोटि ऋषि-पुरुष-तन, कोटि कोटि नृपसूर।
कोटि कोटि बुध मधुर कवि, मिले यहाँ की धूर॥"

इसलिए तुम्हारी समस्त मृत्तिका पवित्र है। रज मस्तक पर चढ़ाने योग्य है। तुम्हारी प्रत्येक रेणु में ज्ञान, बुद्धि, मेधा, ज्योति, कांति, स्नेह-भक्ति, प्रेम-प्रीति विराज रही है। तुम्हारी प्रत्येक रेणु में धैर्य, गांभीर्य, महत्त्व, औदार्य, तितिक्षा, शौर्य देदीप्यमान हो रहा है। तुम्हारी प्रत्येक रज में शांति, वैराग्य, विवेक, ब्रह्मचर्य, तपस्या और तीर्थ निवास कर रहे हैं। हम अंधे हैं, इन सबको देखकर भी नहीं देख सकते। गुरुदेव ने सुना दिया है, सुनकर भी नहीं सुनते। नित्यकृत्य, प्रातःकृत्य स्मरण करके भी स्मरण नहीं करते। हा! मा! तुम्हारी पवित्र मृत्तिका मस्तक पर चढ़ा, एक बार भी तो मुख से नहीं कहते, कि—

"अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे।
मृत्तिके हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम्॥"

प्रभात के समय क्या कहकर तुम्हारी वंदना करें? शय्या त्याग कर नीचे पैर रखते हुए प्रणाम कर कहना चाहिए,—

"समुद्रमेखले देवि! पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥"

देवि ! इस समय मैं पैर से तुम्हारा अंगस्पर्श करूँगा। तुम्हें स्पर्श न करें, ऐसा उपाय ही क्या है ? समुद्रांत जितना विस्तृत स्थान है, सभी तो तुम्हारा अंग है। इस स्थान को छोड़कर मैं कहाँ जाऊँ। इस समुद्रांत भूमि पर जितने प्राणी रहते हैं, सबको ही तुम्हारे शरीर पर रखना होगा। सो, मा ! तू इस अपराध को क्षमा कर। तुम जननी हो, तुम क्षमा न करोगी तो कौन करेगा ? यह विशाल पर्वत-समूह तुम्हारा स्तन-मंडल है, इस पर्वत-समूह से जितनी ही स्रोतस्विनी नदियाँ निकल रही हैं सो तुम्हारे ही स्तन की दुग्धधारा हैं। इन्हीं से सब प्राणी प्राणवान हैं। सो जननि ! विष्णुपत्नि ! संतान का यह अपराध क्षमा कर। हम भक्ति-प्रवण चित्त से तुम्हें नमस्कार करते हैं।

हाय मा ! आज वे सब रत्न जीवित नहीं हैं, इसी से तो तुम बदनाम हो रही हो। आज तुम्हारी संतान मिट्टी हो रही है। इसलिए तुम्हारा भी वह वसुंधरा नाम विलुप्तप्राय है। देवी ! अब के मटियल कवियों को तो यही सूझता है, कि

समझ के अपने तन को मिट्टी, मिट्टी जो कि रमाता है।
मिट्टी करके अपना सरवस, मिट्टी में मिल जाता है॥

इसी समय हरदयाल फिर आ पहुँचा। कहने लगा,—"चाचा ! खूब हुआ, अब उसे कुछ न मिलेगा—यह सुनकर वह रो रहा है।" मैं बोला,—"देख हरदयाल ! मैं भी तो रो रहा हूँ।" वस्तुतः इस समय मैं भावविह्वल हो रहा था। दोनों नेत्र जल से छल छल कर रहे थे। हरदयाल ने मेरी ओर देखकर कहा,—"क्यों चाचा ! तुम रोते क्यों हो ? खिलौना फूट गया है, इसलिए क्या ? खिलौना तो खरीदने पर फिर भी मिल सकता है।" मैंने कहा,—"हाँ, खिलौना खरीदने पर फिर भी मिल जायगा, इसलिए

नहीं रोता । जो खरीदने पर नहीं मिलता, उसके लिए रोता हूँ ।"

दूसरी ओर से श्रीधर के रोने की आवाज आई । बालक की सांत्वना के निमित्त स्वयं मुझको उठना पड़ा । मैंने विषयांतर में मन लगाया । इस प्रकार मेरी चिंता का स्रोत, अर्द्धपथ ही में आकर, रुक रहा । रुक जाय, समझनेवाले इसी से एक प्रकार का सिद्धांत निकाल सकते हैं । अर्थात् 'सब मिट्टी हो गया' इस बात को लोग जिस प्रकार कहते हैं, 'मिट्टी से सब होता है' यह बात भी उसी प्रकार कही जा सकती है । कोई कंचन को मिट्टी करता है और कोई मिट्टी का कंचन बना डालता है । सब समझ की बलिहारी है !

इस निबन्ध में भावार्थ प्रतिपादन की शैली है
हमे अपनी एवं संस्कृत को याद रखना चाहिये
तथा सबमिट्टी होगया न कहकर सब मिट्टी से सब होता है।

Imp. सब "मिट्टी होगया" में लेखक का प्रतिपाद्य विषय क्या है?

१०४। तर्कपूर्ण तथ्य-निरूपण पर लेखक के विचार--

सातवीं सुरभि—

(श्री बाबू श्यामसुंदरदास)

भारत के वाङ्मय का आरंभ ऋग्वेद से होता है और वह अति प्राचीन रचना है। उस समय से लेकर क्रमशः किस प्रकार वाङ्मय का विकास होते होते आधुनिक काल की देशी भाषाओं में उसको यह स्वरूप प्राप्त हुआ, इसी का इस निबंध में वर्णन है। श्रुति, स्मृति, वेदांग, सूत्र आदि शब्दों की व्याख्या करके तत्तत् वाङ्मय का स्वरूप अत्यंत बोधगम्य बना दिया गया है। यद्यपि वेदों के निर्माण-काल तथा आर्यों के निवास-स्थान के संबंध में इधर कई विद्वानों ने विपरीत मत प्रदर्शित किया है, फिर भी आरंभ में यही सबकी धारणा थी और अब भी पाश्चात्य विद्वान् इसी मत को मानते हैं। विषय-प्रधान निबंध लिखने में ये अत्यंत पटु हैं और इनकी शैली इतनी स्पष्ट और सुबोध है कि तात्पर्य हृदयंगम करने में विशेष कठिनाई नहीं होती। भाषा भी अत्यंत प्रांजल है।

हमारे साहित्योदय की प्राचीन कथा

किसी जाति या देश का साहित्य उस जाति या देश के महाजनों की भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं का एक लिखित भांडार है, जो उस जाति या देश के उदय से आरंभ होकर निरंतर भरता आया है और जब तक उस जाति या देश का अस्तित्व इस भूतल पर वर्तमान रहेगा सदा भरता जायगा। यों तो संसार में साहित्य की सृष्टि उसी दिन से आरंभ हो गई है जिस दिन से मनुष्य इतर जंगम-सृष्टि से उन्नत होकर अनुभव करने और सोचने विचारने लगा है; पर उसकी वास्तविक उन्नति उस समय से आरंभ होती है जब से उसमें अपने भावों, विचारों और कल्पनाओं को अपने सहवासियों पर प्रकट करने की तथा उनके भावों, विचारों और कल्पनाओं को स्वयं जानने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई।

साहित्य का मानव-जीवन से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। साहित्य में किसी जाति के जीवन का स्पष्ट चित्र देख पड़ता है। साहित्य उसके अभ्युत्थान और पतन, उसकी सांसारिक चेष्टाओं, उसकी स्वतंत्रता, उसकी दासता, उसकी उच्छृङ्खलता, उसके विचारों या भावों की होड़ तथा उसके सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन का साक्षात् स्वच्छ प्रतिबिंब है। साहित्य की बात तो दूर रही, उसकी भाषा के एक एक शब्द में उसका इतिहास भरा पड़ा है। अतएव मानव-जीवन और साहित्य-जीवन में अन्योन्याश्रय संबंध है। एक के बिना दूसरे का विवेचन ठीक-ठीक नहीं हो सकता।

इस विचार से साहित्य निर्मायक और निर्मित दोनों है। जहाँ एक ओर वह अपने प्रभाव से परिस्थिति के परिवर्तन करने में समर्थ होता है, वहाँ वह प्रायः वर्तमान परिस्थिति में पड़कर स्वयं उसके साँचे में ढल जाता है। साहित्य के अधिकांश भाग को निर्मित होने का ही गौरव प्राप्त होता है, निर्मायक होने का सौभाग्य तो 'क्वचित्' की श्रेणी में गिनने योग्य है। इस अवस्था में किसी जाति के साहित्यिक विकास के तथ्य को समझने के लिए यही आवश्यक नहीं है कि उसकी परंपरागत स्थितियों का विवरण जान लिया जाय, वरन् यह भी आवश्यक है कि उसके जीवन के भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक स्थितियों का भी विवेचन किया जाय जिसमें दोनों की तुलना करके तत्त्व की बात समझ में आ सके।

भाषा और साहित्य का संबंध भी बड़ा घनिष्ठ है। यद्यपि दोनों का विकास अपनी अपनी स्वतंत्र परिस्थिति के अनुकूल होता है, तथापि दोनों एक दूसरे के परम सहायक और घनिष्ठ मित्र हैं। जैसा कि हम कह चुके हैं, साहित्य भावों, विचारों और कल्पनाओं का भांडार है और भाषा उन भावों, विचारों और कल्पनाओं के प्रकट करने का एकमात्र मुख्य साधन है। जिस प्रकार भाषणशक्ति के बिना भाषा का विकास नहीं हो सकता वैसे ही भाषा के बिना साहित्य का आविर्भाव असंभव है। यदि भाषा के न रहते हुए भाव, विचार और कल्पनाएँ उदय होतीं तो उनके प्रकट करने के साधन के अभाव में वे अपने उद्गम-स्थान में लीन हो जातीं और आज संसार को उनके संचित भांडार को रक्षित रखने की कौन कहे, उसके सूत्रपात करने का भी सुयोग न उपस्थित होता। इस अवस्था में साहित्य

के लिए भाषा कितनी उपयोगी है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। पर भाषा का विकास एक अलग ढंग पर होता है और साहित्य का दूसरे ढंग पर, भाषाओं के रूपात्मक विकास में और साहित्य के विकास में कोई समानता नहीं है; पर उसके भावात्मक विकास में और साहित्य के विकास में कई बातों में समानता है। ऐतिहासिक तथा भौगोलिक स्थिति और मानसिक प्रवृत्तियों के कारण किसी भाषा में भाव का लोप या उदय होता है, और साहित्य के मूल आधार भाव ही हैं। इसलिए ये ही स्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ साहित्य पर भी प्रभाव डालती हैं और उसमें परिवर्तन करती हैं। भिन्न-भिन्न भौगोलिक स्थितियों में पड़ जाने से अथवा घटनाचक्र के वशीभूत हो जाने से किसी जाति के जीवन में या किसी देश की स्थिति में ऐसे परिवर्तन हो जाते हैं जो उसके रूप को बदल देते हैं। इन परिवर्तनों की प्रतिच्छाया साहित्य में संरक्षित रहती है। समय पड़ने पर यही साहित्य उसका स्वच्छ, स्पष्ट और साक्षात् चित्र ला उपस्थित करता है।

यह बात प्रायः सर्वसंमत है कि प्राचीन भारतीय आर्य योरप और एशिया की आधुनिक सीमा के आसपास के मैदानों में रहते थे। वहाँ से वे मंगोल जाति के आक्रमण, जलवायु में परिवर्तन, वर्षा के अभाव, वंशवृद्धि अथवा गृहकलह के कारण हिंदूकुश और अफ़गानिस्तान के मार्ग से भारतवर्ष में आए और पंजाब में बस गए। इससे यह अभिप्राय नहीं है कि वे एकदम बढ़ते हुए चले आए थे और सीधे आकर पंजाब के मैदानों में बस गए थे। उन्हें अपने पूर्व निवासस्थान से चलकर पंजाब में बसने तक कई शताब्दियाँ लग गईं। साथ ही वे कई टोलियों में इस देश में आए थे और क्रमशः उत्तर भारत

में चारों ओर फैल गए थे। यहाँ के आदिम निवासी द्रविड़ जाति के थे, जिन्हें उन्होंने दक्षिण की ओर खदेड़ दिया था अथवा दस्युओं में गिनकर पीछे से अपने जातीय संगठन का एक अंग बना लिया था। कुछ लोग यह समझते हैं कि आर्य लोग जब भारतवर्ष में आए थे तब वे निरे असभ्य और जंगली थे। यह विचार सर्वथा भ्रमपूर्ण है। आर्य लोग एक उन्नत, बलिष्ठ, गौर-वर्ण, दीर्घकाय और सभ्य जाति के लोग थे। उनका जीवन उस समय की स्थिति के अनुसार सुव्यवस्थित, सुसभ्य और समुन्नत था। वे अपने साथ ऋग्वेद की ऋचाओं का भांडार लेते आए थे, जो उनके उन्नत विचारों, परिमार्जित भावों, सुव्यवस्थित जीवन और प्रकृति की उपासना का द्योतक है। जिस समय वे अपने पूर्व निवासस्थान से चले थे उस समय संसार की प्राचीनतम साहित्यिक रचना की समाप्ति नहीं हो चुकी थी। इसमें निरंतर नई रचनाएँ जोड़ी जाती थीं और यह कार्य कई शताब्दियों तक निरंतर चलता रहा।

अंत में महर्षि वेदव्यास ने समस्त ऋचाओं का संग्रह कर उन्हें यथाक्रम लगाया और संपादन कर उनको सुव्यवस्थित रूप दिया। संसार की साहित्यिक रचना का आदि-ग्रंथ इस समय यही ऋग्वेद-संहिता है। इससे पुराना ग्रंथ अभी तक कोई नहीं मिला है। अतएव भारतीय आर्यों को ही साहित्य के इस प्राचीनतम ग्रंथ को संरक्षित रखने का गौरव प्राप्त है। यह हमारी अत्यंत मूल्यवान् और आदरणीय संपत्ति है, जो हमारी प्राचीनता की ही सूचक नहीं, वरन् हमारी सभ्यता, हमारी आध्यात्मिकता, हमारी साहित्यिकता और हमारी सामाजिकता तथा संगठन-शक्ति की भी द्योतक है। इसी ऋग्वेद से हमारे आर्य-साहित्य का आरंभ होता है।

इस वैदिक काल की सीमा आरंभ से लेकर विक्रम के कोई २०० वर्ष ईसा पूर्व तक आती है। तिलक महोदय ने गणित-ज्योतिष के आधार पर गणना करके यह सिद्ध किया है कि आर्यों की सभ्यता के प्राचीनतम रूप का समय ईसा के ८०० पूर्व से ५००० वर्ष पूर्व तक है। इस काल में वेदों की ऋचाएँ अपने परिमार्जित रूप में नहीं संकलित हो सकी थीं। संभवतः ये अंशतः गद्य और अंशतः पद्य में थीं। जिनमें प्रायः देवताओं के नामों, उपाधियों और अद्भुत कर्मों का वर्णन रहता था। इस काल का नाम तिलक महोदय ने 'अदिति काल' रखा है। इसके अनंतर 'मृगशिरा काल' आता है। जिसका विस्तार ५०० ई० पू० से ३००० ई० पू० तक है। यह आर्यसभ्यता का सबसे मुख्य काल है। ऋग्वेद के बहुत से सूत्रों की रचना इसी काल में हुई थी और इसी काल के अंतिम भाग में आधुनिक यूनानी और ईरानी लोगों के पूर्व पुरुष अपने आदिम स्थान से भिन्न-भिन्न दिशाओं में गए थे। इससे यह सिद्धांत निकलता है कि ३००० ई० पू० तक आर्य लोग भारतवर्ष में नहीं आए थे। संभवतः वे इस काल में काबुल तक पहुँच गए थे। तीसरे काल को महाशय तिलक ने 'कृत्तिका काल' कहा है, जो ३००० ई० पू० से १४०० ई० पू० तक था। इसी काल में तैत्तिरीय-संहिता और कई ब्राह्मण-ग्रंथों की रचना हुई थी। इस काल के आरंभ में ही ऋग्वेद की ऋचाओं का अर्थ साधारणतः नहीं समझा जाता था और उनकी गणना प्राचीन साहित्य में होने लग गई थी। संभवतः इसी कृत्तिका-काल में संहिताओं का संपादन करके उनका क्रम लगाया गया और प्राचीनतम ऋचाओं और मंत्रों का अर्थ निश्चित करने का आयोजन किया गया। प्राचीन संस्कृत-साहित्य का चौथा अथवा अंतिम काल

१४०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक था। इस काल में सूत्रों तथा उपनिषदों की रचना हुई। प्रोफेसर मेकडानेल का मत है कि वैदिक काल १५०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक था। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने इस संबंध में भिन्न भिन्न प्रकार से विचार किया है। पर सब वैदिक काल को १५०० ई० पू० के इधर का नहीं मानते। महाशय तिलक ने ३००० ई० पू० का समय माना है, जिसे साधारणतः ठीक समझना चाहिए।

संस्कृत-साहित्य दो मुख्य भागों या कालों में विभक्त किया जा सकता है। एक वैदिक काल और दूसरा परिमार्जित या संस्कृत काल। प्रथम काल का आरंभ उस समय से होता है जब आर्य लोग पंचनद देश अथवा प्राचीन काल के सप्तसिंधु देश में बस गए थे और उन्होंने अपने वेदों का संकलन और संपादन करके उन्हें सुव्यवस्थित रूप दिया था। कल्पना का विकास और पद्य का आविर्भाव इस काल की विशेषता थी। इन आर्य ऋषियों ने इस प्राचीन काल में अपनी मानसिक सृष्टि की अद्भुत उन्नति की थी और यह देखकर आश्चर्य होता है कि उन दिनों में भी उनके विचार ऐसे उन्नत, सूक्ष्म, मौलिक तथा तत्त्वदर्शी थे। उनके परिमार्जित विचारों के सौष्ठव, भावव्यंजन के कौशल और भाषा तथा छंदोबद्ध रचना के नैपुण्य ने उन्हें मानव-जगत् का मुकुट बनाया है। संसार की किसी जाति को उनके इस आसन को स्पर्श करने तक का साहस नहीं हुआ। उन्होंने आडंबरशून्य धार्मिक तथा दार्शनिक तत्त्वों का अनुशीलन कर साक्षात् कृतधर्मा की उपाधि प्राप्त की है। इस वैदिक काल के साहित्य को हम तीन उपभागों में विभाजित कर सकते हैं। पहला उपविभाग चारों वेदों की रचना से संबंध रखता है। इन चारों वेदों में सबसे प्राचीन महत्त्वपूर्ण ऋग्वेद-

संहिता है, जो १० मडलों में विभक्त है और जिसमें सब मिलाकर १०२८ ऋचाएँ हैं। इन ऋचाओं में भिन्न-भिन्न देवताओं विशेषकर इंद्र, अग्नि और सोम का वर्णन तथा उनके प्रति प्रार्थनाएँ हैं। ऐसा जान पड़ता है कि अद्भुत प्राकृतिक पदार्थों और घटनाओं का इन प्राचीन ऋषियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। इन्हीं को आदर्शरूप मानकर इन्होंने बहुत सी, ऋचाओं की रचना की थी। डाक्टर मेकडानेल का कथन है कि "कुछ थोड़े से देवताओं को छोड़कर जो प्राचीनतर काल के हैं, शेष देवताओं की स्थिति प्राकृतिक नींव पर अवलंबित है—जैसे सूर्य, उषा, अग्नि, वायु, पर्जन्य आदि। जिन ऋचाओं के आधार पर यह अर्थ लिया गया है वे चाहे प्राकृतिक घटनाओं की द्योतक हों, चाहे उनमें कोई दार्शनिक भाव अंतर्हित हो, इसमें संदेह नहीं है कि ऋग्वेद के ऋषियों की रचनाएँ उत्तम कोटि की हैं, उनमें भाव और भाषा दोनों का सौष्ठव वर्तमान है।" दूसरा सामवेद है। इसमें ७५ ऋचाओं और मंत्रों को छोड़कर शेष सब अंश ऋग्वेद से लिया गया है। इस सामवेद के संकलन का उद्देश्य यही जान पड़ता है कि सोम-पान तथा अन्य क्रियाओं के समय गाने-योग्य ऋचाओं का संग्रह एक स्थान में मिल जाय। यजुर्वेद में भिन्न-भिन्न धार्मिक क्रियाओं के उपयुक्त ऋचाओं का संग्रह है। इसमें विशेषता यह है कि ऋग्वेद की ऋचाओं के अतिरिक्त बहुत सा अंश गद्य में लिखा गया है। इन्हीं तीनों वेदों के समुदाय को त्रयी या वेदत्रयी भी कहते हैं। चौथा अथर्ववेद है, जो सबसे पीछे का है और जिसमें विशेषकर मंत्रों तथा धार्मिक विधानों का संग्रह है। इसकी भाषा तथा इसके विषय का विवेचन करके यह सिद्ध किया गया है कि यह अन्य तीनों वेदों से बहुत पीछे बना है।

इन चारों वेदों की रचना के अनंतर वैदिक काल के साहित्य की उत्पादक क्रिया भी समाप्त होती है। अब न नए मंत्रों और ऋचाओं की रचना होती थी और न अब उसकी आवश्यकता ही थी। अब इन प्राचीन ऋषियों की संतान ने धार्मिक विधानों की ओर ध्यान देना आरंभ किया। अतएव अब इस बात की आवश्यकता हुई कि प्राचीन मंत्रों और ऋचाओं का धार्मिक विधानों से संबंध स्थापित किया जाय और उनके आंतरिक भावों को स्पष्ट किया जाय। इस उद्देश्य से प्रत्येक वेद के ब्राह्मणों की रचना आरंभ हुई। ये सब गद्य में लिखे गए हैं, पर इनकी लेखनशैली में आरंभ काल की मधुरता, स्वच्छंदता और सुंदरता नहीं है। वेदों और ब्राह्मणों में मुख्य अन्तर यह है कि वेदों की भाषा काव्यमय और पद्यात्मक है, पर ब्राह्मणों की भाषा काव्यगुणहीन और गद्यमय है। पहले में स्वाभाविक और गोचर भावों का, तो दूसरे में बनावटी और अगोचर भावों का बाहुल्य है। एक में देवताओं की अद्भुत और स्वाभाविक कल्पना का आनंद है, तो दूसरे में धार्मिक विधानों और क्रियाओं की विशेषता है। ऋग्वेद में अध्वर्यु के कर्तव्यों का वर्णन है। इन्हीं ब्राह्मणों के अंतर्गत आगे चलकर आरण्यक हुए, जिनमें दार्शनिक विषयों पर विचार किया गया। पीछे से विशेषकर अथर्ववेद के आधार पर आरण्यकों से उपनिषदों की रचना हुई। ये उपनिषद् दो भागों में विभक्त किए जा सकते हैं—एक तो वे जिनका सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय या देवता-विशेष से नहीं है, जिनमें केवल परमात्मा का चिंतन किया गया है और जो मुक्ति-लाभ के साधनों पर विचार करते हैं; दूसरे वे जो संप्रदाय-विशेष से सम्बन्ध रखते हैं।

अब वैदिक साहित्य के तीसरे उपविभाग का समय आता

है। आरंभ में तो केवल वेदों को 'श्रुति' का नाम दिया गया था, क्योंकि केवल इन्हीं का ज्ञान पहले-पहल सुनकर हुआ था। संसार की सब बातों के ज्ञान के विषय में दो सिद्धान्त माने जाते हैं—एक विकास-सिद्धांत और दूसरा श्रुति-सिद्धांत। विकास सिद्धांत के अनुसार सब बातों का आरंभ किसी साधारण बात से होता है और क्रमशः उन्नति होती रहती है, साथ ही संकुलता और जटिलता आती जाती है। श्रुति-सिद्धान्त में जो कुछ हमें ज्ञान हुआ है वह ईश्वर की दया का फल है। उसने हमें कृपा-पूर्वक उसे उपहार-स्वरूप दिया है, अथवा उसकी अनुकंपा से वह स्वयं आविर्भूत हुआ। सारांश यह कि विकास-सिद्धान्त में क्रमशः उन्नति होती है और श्रुति-सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य आरंभ में ही ज्ञान-सम्पन्न हो गया था। संसार में जितने धार्मिक सम्प्रदाय हैं सब श्रुति-सिद्धान्त के माननेवाले हैं, विकास-सिद्धान्त को कोई नहीं मानता। इसी प्रकार वेदों का आविर्भाव भी ईश्वर की दया का फल है, अर्थात् प्राचीन ऋषियों ने इन्हें ब्रह्मा से सुनकर कंठस्थ कर लिया है। इसलिए ये 'श्रुति' कहलाते हैं। पीछे के ग्रंथ 'श्रुति' के अंतर्गत न होकर 'स्मृति' के अंतर्गत माने जाते हैं। पहले तो तीनों वेद 'श्रुति' में गिने जाते थे, पीछे से चौथा वेद भी उसी में गिना जाने लगा। तब ब्राह्मणों के लिए झगड़ा उपस्थित हुआ और अंत में आरण्यकों तक को यह पदवी दी गई। इनके अतिरिक्त जो और धर्मग्रंथ थे वे 'स्मृति' में गिने गए। अतएव वैदिक साहित्य-काल के प्रथम दो भागों को हम श्रुतिकाल और तीसरे विभाग को स्मृतिकाल कह सकते हैं।

इस समय तक धार्मिक क्रियाओं और विधानों का आडंबर इतना बढ़ गया था और इस संबंध में इतना अधिक साहित्य-निर्माण हो चुका था कि सबका यथावत् कंठस्थ रखना और ठीक-

ठीक उपयोग करना बहुत-कुछ कठिन हो गया था। अतएव अब इस बात की आवश्यकता हुई कि जहाँ तक संभव हो सब बातें संक्षेप में कही जायँ। इस प्रकार 'सूत्र'-रूप में सब बातें कही जाने लगीं और क्रमशः श्रौत सूत्रों और गृह्य सूत्रों की रचना हुई। वेदों की रचना के आरंभ से लेकर सूत्रों के निर्माण तक कई शताब्दियाँ बीत चुकी थीं और इस बीच में आर्यों की स्थिति में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था। वैदिक भाषा भी क्रमशः विकसित, परिमार्जित तथा सुश्रृंखलित होकर नया रूप धारण कर रही थी। इस अवस्था में प्राचीन वैदिक साहित्य का तथ्य समझने में कठिनता होने लगी। इसका ज्ञान रक्षित रखने के लिए वेदांगों की रचना हुई। इनमें से शिक्षा, छंद, व्याकरण और निरुक्त का संबंध तो वेदों के ठीक-ठीक पाठ करने तथा उनका अर्थ लगाने से है और कल्प तथा ज्योतिष का संबंध धार्मिक कृत्यों की रीतियों तथा समयों से है। इस प्रकार वैदिक साहित्य-काल के अंतिम दिनों में उन शास्त्रों का आरंभ हो गया था जिनकी आगे चलकर उन्नति हुई।

वैदिक साहित्यकाल की समाप्ति के पूर्व ही से परिमार्जित अथवा संस्कृत-साहित्य-काल का आरंभ हो गया था। वैदिक साहित्य-काल की समाप्ति २०० ई० पू० के लगभग होती है; पर संस्कृत-काल का आरंभ लगभग ५०० ई० पू० से होता है और लगभग १००० ई० तक जाता है। इन १५०० वर्षों में संस्कृत-साहित्य ने अद्भुत उन्नति की। इसका सर्वोत्कृष्ट समय गुप्तवंशीय राजाओं का है जब अनेक उत्कृष्ट ग्रंथों की रचना हुई। पर गुप्तों का राज्यकाल आरंभ होने के पहले ही यहाँ की भाषा में परिवर्तन आरंभ हो गया था। कुछ विद्वानों का मत है कि वेदों की रचना जिस भाषा में हुई वह

बोलचाल की भाषा से कुछ भिन्न थी। उनका यह भी कहना है कि बोलचाल की भाषा और लिखने-पढ़ने की भाषा अपने अपने स्वतंत्र स्रोतों में प्रवाहित होती रही। जब लिखने-पढ़ने की भाषा परिमार्जित होते होते केवल विद्वानों ही की संपत्ति रह गई तब बोलचाल की भाषा ने क्रमशः उसका स्थान ग्रहण किया। इस प्रकार यह क्रम निरंतर चलता रहा। इस सिद्धांत के आधार पर यह कहा जाता है कि बोलचाल की भाषा क्रमशः परिवर्तित या विकसित होते होते बौद्ध काल में पाली के रूप में आविर्भूत हुई। यह पाली संस्कृत से बहुत कुछ मिलती-जुलती है, पर इसमें संस्कृत की अपेक्षा स्वच्छंदता अधिक है। यह व्याकरण के जटिल नियमों से परिवेष्टित नहीं हुई है। पाली में बौद्ध साहित्य की रचना हुई है। पाली के अनंतर भिन्न-भिन्न प्राकृतों का समय आता है। इन प्राकृतों में भी यथासमय ग्रन्थों की रचना हुई और संस्कृत-काव्यों में भी इनको स्थान मिला। जैन-साहित्य विशेषकर प्राकृत में लिखा गया। प्राकृतों के अनंतर अपभ्रंशों का काल आता है। इसमें भी ग्रंथों की रचना हुई। पर इनके बहुत थोड़े ग्रंथों का अब तक पता लगा है। इन अपभ्रंशों के अनंतर हमारी आधुनिक देश-भाषाओं का समय आता है। इनमें से कई का साहित्य-भांडार बहुत कुछ भरा-पूरा है। बँगला, मराठी, गुजराती, हिंदी—ये आधुनिक भाषाएँ उन्नत हैं और इनका भांडार अनेक रत्नों से भरा हुआ है। इन सब भाषाओं में क्रमशः हमारी भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं का लिखित भांडार उदय काल से लेकर अब तक भरता आया है और जब तक इस भूतल पर हमारा अस्तित्व रहेगा तब तक यह भांडार भरता जायगा।

आठवीं सुरभि—

(श्री बाबू ब्रजनंदन सहाय)

हिंदी में भावात्मक पद्धति में पहले से ही रचना हो रही है। आरंभिक समय में इस लेखक ने इसी शैली में एक पूरा का पूरा उपन्यास 'सौंदर्योपासक' नाम से लिखकर हिंदी में नई रुचि की प्रतिष्ठा की थी। भावात्मक पद्धति में धारा और तरंग दो प्रकार के रूप देखे जाते हैं। जहाँ एक ही भाव आरंभ से अंत तक प्रवाहित रहे वहाँ धारा और जहाँ बीच बीच में भावात्मकता दिखाई दे वहाँ तरंगरूप होता है। प्रस्तुत गद्य-खंड धारा-शैली में ही है। भाव का अनुगमन भाषा द्वारा भी हुआ है। वाक्यों का स्वाभाविक एवं संकुचित आकार, वेगलक्षक वाक्यार्थ की अनुवृत्ति, शब्दों की प्रसादपूर्णता, भाषा का व्यवहारानुकूल रूप आदि लेखक की प्रतिभा और शक्ति के द्योतक हैं। करुणरस की यह अनुस्मृति दशा है, वियुक्त के प्रति उठनेवाली स्मृति जब व्यक्ति को बराबर घेरे रहती है।

अनुस्मृति

एक शोकपूर्ण सुनसान स्थान में मैं कई मनुष्यों के संग बैठा हुआ हूँ। यह श्मशान-भूमि है। सामने चिता धधक रही है। मेरे हृदय में भी प्रबल शोकानल धधक रहा है। उसे खोकर मैं आज बहुत दुःखी हूँ। जिसे मैंने प्यार किया वही मुझसे छीन ली गई।

क्या यह दुःख अकेले मुझी पर बीता है ? ऐसी बात नहीं है। दुःख सभी भोगते हैं। किंतु क्या था और क्या हो गया; तुलना से हृदय व्याकुल हो जाता है। मैं कदापि नहीं भूल सकता कि मैं क्या था। संसार में मुझे सुख कितना था ! इसी से मैं इस समय दुःखी हूँ। दूसरे की ही अवस्था देखकर हम लोगों को धैर्य होता है। यदि संसार में एक ही मनुष्य दुःखी होता तो न जाने वह कितना व्याकुल होता। जितने दिनों में मुझे इतना दुःख भोगना पड़ा है, उतने दिनों में कितने ही पुंडरीक-लोचनों से अश्रु-पात हुआ होगा। कितने बिंबा-धर सूख गए होंगे। कितने कोमल हृदय शून्य हो गए होंगे। कितने आलोक बुझ गए होंगे। कितने कुलदीपक निर्वाण हो गए होंगे। कितनी तारिकाएँ अंतर्हित हो गई होंगी। कितने प्रसून मुरझा गए होंगे। कितनी वाटिकाएँ उजड़ गई होंगी। कितने कोमल कलेजों में असाध्य व्याघात लगा होगा। कितने गृह-कुंज की सुख-लता, चित्त-तड़ाग की प्रफुल्लित कुमुदिनी मुरझा गई होंगी। कितनी आशा-लतिका के आश्रय-तरु विनष्ट हो गए होंगे। तो फिर मैं क्यों इतना रो रहा हूँ ?

रोना तो मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है। क्या सभी दुःखी हैं, इस कारण मुझे रोना नहीं चाहिए। नहीं, सभी दुःखी हैं; अतएव मुझे अधिक रोना उचित है।

किंतु मृत्यु होने से मनुष्य क्यों रोता है? मरने में तो बड़ा सुख हैं। मरने से तो आत्माभिमान जाता है, अहंकार जाता है, दारुण दुःख जाता है; शोक, रोग, शंका, संताप सबका नाश हो जाता है। शरीर के साथ ही साथ चिता पर शारीरिक, मानसिक, भौतिक तथा दैविक सब ताप भस्मीभूत हो जाते हैं। तो फिर मरने से मनुष्य क्यों भय पाता है? मृत्यु आशा का, अभिलाषा का, सुख का, सौंदर्य का, लावण्य का भी तो नाश करती है; तो फिर मनुष्य रोए क्यों नहीं? जो खो जाता है वह कभी मिलता नहीं; जिसे विधाता तोड़ता है उसे जोड़ता नहीं; जिसे बिगाड़ता है उसे बनाता नहीं; जो जाता है वह फिरकर आ नहीं सकता—इसी से मनुष्य रोता है। मनुष्य दूसरे का भी तो सुख, आशा, अवलंब सब लेकर मरता है! इसी से मृत्यु का इतना भय है। मृत्यु होने पर गुणों तथा अवगुणों का नाश अवश्य होता है। किंतु कीर्ति तथा अपकीर्ति अक्षय है; सब जाता है किंतु यश-अपयश रह जाता है। यदि मनुष्य मरने पर मरनेवाले को भूल जाता, तो इतना कष्ट न होता। मैं उसे अब पाऊँगा नहीं। किंतु इससे क्या, उसे भूलने भी न पाऊँगा? यदि भूलने पाता तो इतना कष्ट क्यों होता? हृदय में नरकानल क्यों जलता? आज मुझे ज्ञात हुआ कि मनुष्य मृतक के लिए नहीं रोता, वरन् अपने लिए रोता है।

क्या रोने से मैं इतना डर गया हूँ कि इसे भूलना चाहता हूँ? नहीं! नहीं! इसके लिए यदि यंत्रणा भी न सह सका तो इन्हें प्यार ही क्या किया था। जिसे मनुष्य प्यार करता है,

उसके लिए कितना कष्ट उठाता है ! मैं रोने से भी हिचकता हूँ। नहीं ! नहीं ! मैं रोऊँगा, आजन्म रोऊँगा, किंतु इसे भूलने की चेष्टा न करूँगा। इसकी स्मृति है, इसी से मेरा जीवन है। यदि यह भी विलुप्त हो जाए तो अवश्य मेरी मृत्यु हो जाय। परंतु देखता हूँ कि आँखों से अब आँसू भी नहीं निकलता। हृदय में अग्नि जल रही है, नैनों में भी आग बल रही है, अब आँसू कहाँ से आए; इसी से यंत्रणा इतनी बढ़ गई है। अश्रुनीर हृदयानल को बुझाता है; तब हृदय की यंत्रणा बढ़ जाती है और चिंता तथा शोक कलेजे को जला देते हैं।

किंतु यहाँ आकर मैं क्यों रो रहा हूँ ? यह तो अति पवित्र स्थान है, यहाँ तो कलिकाल का राज्य नहीं है। यह स्थल तो धर्मभाव तथा सदुपदेशों से भरा हुआ है। किसी राह से कोई क्यों न जाय, किसी मार्ग का कोई क्यों न अवलंबन करे, सबको यहाँ तो अवश्य आना पड़ेगा। यहाँ मत-मतांतर का झगड़ा नहीं, यह विश्वास-अविश्वास की बात नहीं, श्रद्धा अथवा अश्रद्धा पर इस स्थान की प्राप्ति निर्भर नहीं है। स्वर्ग-नरक कोई माने चाहे न माने, पुनर्जन्म पर कोई विश्वास करे चाहे न करे, आत्मा को नित्य समझे चाहे न समझे, ईश्वर की स्थिति में शंका भले ही करे; किंतु मृत्यु को तो मानना अवश्य पड़ेगा। मौत के चंगुल से बचने का उपाय अभी तक किसी ने तो नहीं निकाला। चाहे तुम श्मशान में आओ, जाहे रेगिस्तान में जाओ, यह दूसरी बात है; किंतु किसी प्रकार इस शरीर को तुम अमर नहीं बना सकते। सब अभिलाषा, सब आकांक्षा, सब साध और परिश्रम का परिणाम यहीं की यात्रा है। यहाँ आकर मनुष्य को विदित होता है कि यह संसार नितांत असार है। धन, जन, बंधु, संपत्ति, पौरुष,

मर्यादा, विद्या, प्रतिभा, बुद्धि, ख्याति अंत में सब व्यर्थ हो जाती हैं। कोई काम नहीं आतीं। किसी मनुष्य को ये यहाँ आने से बचा नहीं सकतीं। यहाँ मनुष्य का कोई गुण सहायता नहीं करता। यहाँ धनी-दरिद्र, पंडित-मूर्ख, सुंदर-कुरूप, महान्-क्षुद्र, ब्राह्मण-शूद्र, गोरे-श्याम, राजा-प्रजा सबकी गणना एक ही श्रेणी में होती है। यहाँ बैठकर चिंता करने से संसार की असारता सहज ही हृदयंगम हो जाती है। जब अंत में सबकी गति यही है तो मनुष्य इतना हाहाकार क्यों करता है? अपने बंधु-बांधवों से राग, द्वेष, ईर्ष्या तथा वैर क्यों बढ़ाता है? यहाँ आने से सबका अहंकार चूर्ण होता है। आज हो चाहे कल, चाहे दस दिन के बाद, अंत में सबकी गति यही है; तब इतना रोना क्यों? अपनी मूर्खता के कारण।

इस नदी के जल के बुलबुलों से अधिक तो मनुष्य का महत्त्व नहीं है। यदि अनंत जलकण की ओर देखो, यदि अनंत बालुका-राशि की ओर दृष्टिपात करो, यदि अनंत विश्व की ओर देखें तो पता चले कि एक कण, एक व्यक्ति कितना क्षुद्र है। श्मशान-भूमि में बैठने से मनुष्य को यह जीवन-उपदेश मिलता है कि सब मनुष्य ईश्वर की आँख में समान हैं, उनके निकट छोटे-बड़े का विवाद नहीं है। अनंत में जब सब की समान गति है तब इतना अहंकार कर मनुष्य केवल अपनी क्षुद्रता का ही परिचय देता है। जो क्षुद्र है, अपनी क्षुद्रता की चेष्टा करके भी उसे छिपा नहीं सकता। अतएव क्षुद्र से जो महान् होना चाहे उसे उचित है कि अपने को अनंत मनुष्य-जाति का एक अंग बनावे। मनुष्य विशेष क्षुद्र है, किंतु मनुष्य-जाति क्षुद्र नहीं है। परोपकार के बंधन में जगत्

को बाँधकर मनुष्य-मात्र के साथ अपना संबंध ठीक करो, फिर तुम्हें देवता भी क्षुद्र नहीं कह सकते।

किंतु यहाँ आने पर मरने की इच्छा क्यों होती है? अनुभूत होता है कि मरने पर उससे मिलूँगा जिन्हें प्यार करता था। मरने पर चितानल बुझ जाएगा। किंतु चितानल तो धधकेगा, उसमें मुझे जलना तो पड़ेगा! तब क्या प्रेम करने पर मनुष्य को जलना ही पड़ता है? जीते जी जलना पड़ता है और मरने पर भी जलना ही पड़ता है? तब यही कहना पड़ता है कि कोई किसी को प्यार नहीं करे। प्यार करने से जलना होगा।

किंतु मेरी बात कौन मानेगा? प्रेम का विषम परिणाम तो सभी जानते हैं। प्रणय में दुःख है यह तो सभी मानते हैं। पर इससे कोई प्रेम करने से हिचकता है?

मरने की तो इच्छा होती है, किंतु मर नहीं सकता, क्योंकि भय होता है कि मरने पर अपने प्रेमपात्र को भूल जाऊँगा; उसके साथ संबंध टूट जाएगा। आँखों की ओट होने से क्या, अभी तक तो वह मूर्ति हृदय में जागरित है। जहाँ वह मूर्ति है, जहाँ उसका प्रेम है, वह स्थान तो पवित्र है, उसे जान-बूझकर क्यों नष्ट करूँ जब तक उसकी चिंता है, कोई चिंता नहीं। उसके विरह में जो यंत्रणा भोग रहा हूँ वह यंत्रणा नहीं सुख है। यह संसार अब सुख-निकेतन नहीं रहा, यंत्रणा का आगार हो गया, किंतु इससे क्या? यह प्रेम की यंत्रणा है, इसे मैं सानंद सहूँगा। किंतु यह कभी आशा नहीं थी कि इस प्रणय में विछोह होगा। कभी नहीं समझता था, स्वप्न में भी ध्यान में नहीं आता था कि तुम्हें छोड़कर मैं बच सकूँगा।

किंतु मन में अब यह धारणा है कि तुम अब सुखी हो,

तुम्हें अब चिंता नहीं है, इसी से आज भी मैं सुखी हूँ। तुम जहाँ हो वहाँ कोई कभी दुःख अनुभव नहीं करता। परंतु यह भी कैसे कहूँ, क्योंकि वहाँ का यात्री कभी फिरकर तो नहीं आता। आज तक ऐसे जीवों से भेंट नहीं हुई जो वहाँ का यथार्थ संवाद दें, अपने सिर की बीती बातें कहें। मेरा तो शास्त्रों पर विश्वास है, तब क्यों न समझूँ कि यह जहाँ है वहाँ दुःख नहीं है, संताप नहीं है, विरह-वियोग नहीं है। केवल प्रेम ही का वहाँ राज्य है। वहाँ अपने लिए कोई नहीं रोता, दूसरे का सुख देखकर किसी को डाह नहीं होती। परस्पर एक दूसरे को सुखी करने की सभी चेष्टा करते हैं। अपवित्रता, अप्रेम और स्वार्थ वहाँ भूलकर भी पदार्पण नहीं करते।

मैंने प्रेम किया। प्रेम का विषम परिणाम मुझे भोगना पड़ा, किंतु भला इसमें मेरा दोष क्या है? मुझमें जो कुछ है, सबके कर्ता तो, जगदीश! तुम्हीं हो। मुझी को क्यों, संसार में जो कुछ है सब तुम्हींने बनाया; मेरे हृदय को तुम्हींने बनाया, उसकी रचना तुम्हींने की, उसे सौंदर्य तुम्हींने दिया, मेरे हृदय में प्रेम तुम्हींने भरा. मुझे सौंदर्योपासक तुम्हींने किया। मेरे मन को चंचल तुम्हींने बनाया और उसके संग मेरा प्रेम-संबंध तुम्हींने संस्थापन किया। उसे देखने का अवसर मुझे तुम्हींने दिया, मेरे संयोग को भंग तुम्हींने किया, तो फिर कहो मेरा अपराध क्या है? मैं इतना दुःख क्यों भोग रहा हूँ? तुममें क्या शक्ति नहीं है? आज भी मेरे मन को तुम स्थिर क्यों नहीं करते? मेरी दुर्बलता क्यों नहीं हटाते? हाय! हाय! मैं आज तक नहीं जानता था कि अनुराग में मनुष्य को इतना दुःख झेलना पड़ता है। इतनी मर्मांतक पीड़ा सहनी पड़ती है। यदि मैं ऐसा जानता तो इसके समीप भूलकर भी नहीं जाता, किंतु विचारने से तो

ज्ञात होता है कि मनुष्य का हृदय चिरकाल से सौंदर्य का भिखारी है। वाल्य काल ही से जब कोई सुंदर पदार्थ देखता हूँ, उसके पाने के लिए छटपटाता हूँ। जब बुद्धि नहीं थी, जब विचार नहीं था, जब अपने कर्मों का उत्तरदाता नहीं था, तब भी तो, देखता हूँ, सौंदर्य को ऐसा ही चाहता था। तब भी तो अधीर होकर ऐसा ही रोता था। आकाश के चंद्र को हस्तगत करने के लिए मैं कितना सिर पीटता था! देखता हूँ कि काल तथा अवस्था के भेद से रुचि का भेद हो गया, किंतु सौंदर्योपासना की बात तो ज्यों की त्यों रह गई। उस समय भी कमनीयता, मधुरता, लावण्यता तथा सुंदरता को देखकर मन चंचल हो जाता था, चित्त आकर्षित हो जाता था, हृदय सरोवर में आनंद की लहरें उठने लगी थीं; आज भी तो वही दशा है। पहले चंद्र को प्यार करता था, उसे देखकर आनंद से नाचता था, उसे नहीं पाने पर रोता था, उसके अस्त हो जाने पर व्याकुल होकर सिर धुनता था। आज चंद्रमुखी को प्यार किया और उसी के रहने के कारण बिलख-बिलखकर रो रहा हूँ। जगदीश! फिर कहो, इसमें मेरा क्या दोष है?

किंतु विस्मृत सुख-स्वप्न की स्मृति आते ही हृदय में नूतन दुःख का क्यों संचार हुआ? प्रेयसी की मृत्यु के पश्चात् प्रथम प्रणय सी सुखद, मर्मांतक प्रीति-वेदना सी हिंसक, जीवन में मृत्यु-सदृश पिछले दिनों की स्मृति होती है। बालविनोद की बातें याद आते ही मैं अधिक अधीर हो गया।

देखते देखते उधर चिता धधक उठी, इधर मेरे हृदय में चिंतानल धधक उठा। हाय! हाय! जिसकी देह इस चिता पर लहक रही है, मैंने आज जिसे अग्नि की गोद में सुला दिया है—

वह मेरे धर्म का सहाय, संसार का पुण्य, गृह की लक्ष्मी, सुख दुःख की संगिनी, शरीर एवं आत्मा की पूर्ति थी। इसके नहीं रहने से मेरा गृह आज अरण्य हो गया, इसके चले जाने से संसार के संग मेरा अंतिम बंधन टूट गया। मेरी आज क्या दशा हो रही है, उसे मेरा मन जानेगा और जो अंतर्यामी हैं वह जानेंगे! दूसरा क्या जानेगा?

नवीं सुरभि—

(श्री प० चंद्रधर शर्मा गुलेरी)

इस निबंध में भाषा-विज्ञान के इस सिद्धांत की चर्चा की गई है कि शब्दों का अर्थ-परिवर्तन कैसे होता है। विद्वान् लेखक ने विभिन्न देशों के उदाहरणों का भी संग्रह किया है और संस्कृत-व्याकरण के शब्दों की भी चर्चा चलाई है। मनुष्य की मंगलेच्छु प्रवृत्ति के कारण कैसा अर्थयोग का चमत्कार दिखाई पड़ता है, इसे बड़े ही कट-कीने से प्रस्तुत किया गया है। रूखा विषय सरस रूप में आकर ज्ञान-वृद्धि के साथ साथ रुचिकारक भी प्रतीत होता है। भंगिमा का वैशिष्ट्य शैली को मोहक बनाए हुए है। लेख मंगलमय है!

अमंगल के स्थान में मंगल शब्द

साधारण बोलचाल में अमंगल या अश्लील शब्दों की जगह अच्छे शब्दों का प्रयोग बहुत उदाहरणों में पाया जाता है। ऐसे शब्द या तो बिलकुल उलटा अर्थ बतानेवाले होते हैं और विपरीत लक्षणा से उस शब्द के अर्थ को बताते हैं जो अमंगल समझकर छिपाया जाता है, अथवा उसी भाव को हलके रूप में प्रकट करते हैं। 'दिया बुझ गया' कहना अमंगल समझा जाता है, क्योंकि 'बुझना' मृत्यु का भाव सूचित करता है; इसलिए 'दिया बुत गया', 'दिया नँद गया'—'दिया बड़ा हो गया'—'दिया ठंडा हो गया'—'दिया बढ़ गया' आदि प्रयोग काम में लाए जाते हैं। बिहारी लिख गया है—

'दिया बढ़ाए हूँ रहत बड़ो उजेरो गेह।'

'होली जल गई' की जगह राजपूताने में 'होली मंगल गई' कहते हैं। 'जलना' और उसके उपकरणों का संपर्क शवदाह से होने के कारण चूल्हा 'जलाते' या 'बालते' नहीं हैं, उसे 'चिताते' हैं; और 'चिताने' में भी 'चिता' शब्द के आ जाने से उसे 'जगाते' हैं। 'मरने' के बदले 'शांत होना' या 'चल बसना' कहा जाता है। 'लकड़ी' या 'काठ' को लोग 'समिध' या 'ईंधन' या 'मुंगधणा' (राजपूताने में) कहते हैं। चिता के लिए 'लकड़ी की काठी' जाती है और रसोई के लिए 'ईंधन का भारा'। 'पानी देना' या 'जल देना' तर्पण का सूचक होने से 'पानी पिलाना' ही व्यवहार में आता है। चूल्हे में 'आग देना' कहने से नई बहू डाँटी जाती है। 'आग' को भी 'बैसंदर (वैश्वानर)' या 'बासदे'

या 'बास्ती' (वैश्वदेव, बलि के लिए पाक होने से) कहते हैं। इसीसे यह कहावत प्रसिद्ध है—

'दूसरे के घर लगे तो बैसंदर, अपने घर लगे तो आग।'

'दूकान बंद' करने से दिवाला निकलने या कारोबार बंद होने की ध्वनि निकलती है, इससे दूकान या किवाड़ 'वढ़ा' कर साहसी रात को घर जाते हैं।

'घड़ा फूट गया' अमंगल वचन है, इसलिए घड़ा 'उत्तर जाता है' या 'बिखर जाता है'। 'चूड़ी टूटना' वैधव्य का सूचक है, इसलिए चूड़ी 'मौल' जाती है, 'मुरक' जाती है, 'बध' (वढ़) जाती है या 'वड़ी' हो जाती है।

'चूड़ा' पहनना विधवा के 'नाते' या पुनर्विवाह का द्योतक होने से राजपूताने में 'चूड़ा धारण' किया जाता है। नहीं तो प्रश्न होता है—'चूड़ा पहनना ? किसका ?'। राजपूतों में 'घोड़ा छुट गया' या 'घोड़ा खुल गया' का अर्थ घोड़े का मरण होता है, इसलिए नौकर—'घोड़ा ढल गया' चिल्लाते फिरते हैं। घोड़ी के लिए व्याना (बच्चा देना) नहीं कहते 'ठाण' (स्थान अर्थात् तबेला) देना कहते हैं। मृत्यु का समाचार देनेवाले पत्र में 'चिट्ठी' शब्द का रूढ़ हो जाने से, और पत्र 'कागद' कहलाते हैं। 'तुम्हारे घर से चिट्ठी आई है'—सुनकर मारवाड़वाले बुरा मानते हैं। वे कह बैठते हैं, "तुम्हारे ही घर से आई होगी, हमारे तो आज ही राजी-खुशी का 'कागद' आया है।"

अशौच का अर्थ अशुद्धि है। जन्म और मरण दोनों ही अवसरों पर धार्मिक अशुद्धि माननेवाला हिंदू 'जन्माशौच' ही समझता है। खाने का ग्रास 'पिंड' नहीं कहा जाता और न 'कर्म, क्रिया, कृत्य' शब्द ही शुभ कार्यों के लिए कहे जाते हैं। मरण के पीछे के सोलह श्राद्ध 'षोडशी' की रूढ़ि अशौचांत

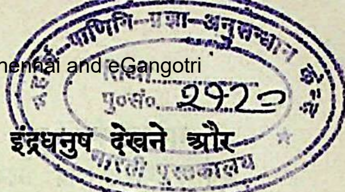
स्नान में होने से सूतिकास्नान 'जल-पूजा' या 'जलुवा पूजना' ही कहाता है। 'गरुड़पुराण' का संबंध मृत्यु से होने से और अवसरों पर उसे 'तार्क्ष्य' कहते हैं।

बाल मुँड़ाने का संपर्क मरण के साथ होने के कारण बालक के शुभ प्रथम मुंडन को 'चूड़ाकर्म' या 'चौल' ही कहते हैं। इसी अशुभ चर्चा से रात को क्षौर या नापित का नाम नहीं लिया जाता और संस्कृत-कोशों में नाई का नाम 'दिवाकीर्ति' हो गया है। साधारण क्षौर का पर्याय 'बाल बनवाना' या 'सँवार (शृंगार) करवाना' जैसे लोकभाषा में है वैसे ही संस्कृत-गृह्यसूत्रों में 'कुशलीकर्म' या 'कुशलीकरण' और वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में 'आयुष्य' (आयु के लिए हित) है। इसी अर्थ में 'भद्राकरण' (भद्र=कुशल) भी है; परंतु उपचार से भद्र होने (भद्दर कराने) का फिर भी अमंगल अर्थ हो जाने पर 'भद्राकरण' भले अर्थ में आने लगा, जिसका कि पाणिनि ने उल्लेख (५।४।६७) किया है।

यात्रा करते समय यह पूछना कि आप कहाँ जाते हैं अपशकुन समझा जाता है, इसीलिए राजपूताने में पूछने का ढंग है 'सिध पधारते हो?' इसमें मंगलवाचक 'सिद्ध' शब्द भी आ गया और अमंगल-जिज्ञासा-वाचक 'किम्' का प्रयोग भी न आने पाया। मृत्यु में सहानुभूति दिखाने के लिए जाने को 'फिरने जाना' कहते हैं और मैथिल लोग इसी भाव को 'जिज्ञासा' शब्द से प्रकट करते हैं। शवदाह के लिए बंगाली 'सत्कार' शब्द काम में लाते हैं। अमंगल, कटु या दुर्भाव-सूचक शब्दों के लिए कोमल पदों के प्रयोग के विषय में भी कुछ कहना अनुचित न होगा। वेश्या को 'सदासुहागिन', व्यभिचारिणी को 'महासती', 'अमंगलमुखी' को 'भद्रमुखी',

उल्लू को 'रात का राजा' कहने की चाल पड़ गई है। महत् शब्द के प्रयोग से हड्डी को महाशंख, चर्बी को महातैल, मनुष्य-मांस (या गोमांस) को महामांस, यम को महावैद्य, कटिहा को महा-ब्राह्मण, श्मशानयात्रा को महायात्रा, यमलोक के मार्ग को महामार्ग और मृत्यु की महानिद्रा के नाम से उल्लेख किया जाता है। वल्लभकुल की सेवा में ब्रजभाषा को छोड़कर दूसरी भाषा के व्यवहार न करने का नियम होने के कारण मुसलमान 'बड़ी जाति' कहाते हैं। चोरों की भाषा में जेल का नाम 'बड़ा घर' या 'ससुराल' है। 'हत्, तेरा भला हो', 'तेरा वंश बढ़े'—इन गालियों में 'भले' का अर्थ 'बुरा' और 'बढ़ने' का अर्थ 'नष्ट होना' है। सर्वत्र प्रचलित 'तेरी ऐसी की तैसी' वाक्य में दोनों सर्वनाम किसी सम्बन्धिनी स्त्री के विषय की गंदी उक्ति को छिपाते हैं।

किसी मनुष्य को सामने खड़ा देखकर पहला प्रश्न होता है कि 'क्यों, क्या है ?' इसका साधारण उत्तर यही होना चाहिए कि 'कुछ नहीं।' पर ऐसे दुःशकुनसूचक उत्तर से बचने के लिए कुछ पंजाबी गृहपति इसी अर्थ में 'सब कुछ' उत्तर चाहते हैं। गृह्यसूत्रों में ब्रह्मचारियों के लिए, स्नातक होने पीछे, यह कड़ा नियम किया गया है कि वे शुक्त अर्थात् अमंगल या अश्लील शब्द न कहा करें। इसके कुछ उदाहरण भी दिए हैं। गर्भिणी को विजन्या (जननेवाली) कहे, क्योंकि 'गर्भ' शब्द का प्रयोग न करना चाहिए। 'नकुल' (नेउले) को 'सकुल' कहे, क्योंकि 'कुल नहीं' कहना अशुभ है। 'कपाल' (खप्पर) को 'भगाल' कहे, क्योंकि स्नातक अब भीख माँगना छोड़ चुका है, और खप्पर भीख का द्योतक है। काशिका में भगाल, नदाल आदि शब्द कपाल के पर्याय माने



हैं ।* इंद्रधनु को मणिधनु कहे, क्योंकि इंद्रधनुष देखने और दिखाने में पाप है—

गर्भिणी विजन्येति ब्रूयात् ।१०। सकुलमिति नकुलम् ।११। भगालमिति कपालम् ।१२। मणिधनुरितीन्द्रधनुः ।१३।

—पारस्कर २।७

कुछ गाँवों के नाम अशुभ माने जाते हैं। सुबह उठकर उनका नाम लेने से यह भय होता है कि भोजन न मिलेगा। उनके नाम बदलकर 'राजा का शहर', 'जववाला गाँव', 'डेढ़कोस का गाँव', 'मोटा गाँव', 'तालाबवाला गाँव' आदि रख दिए जाते हैं। कभी कभी गाँव का दुर्भाग्य नए नाम को भी नहीं छोड़ता; तब नए नाम की जगह और नाम गढ़ा जाता है। ऐसे नाम मेरी जानकारी में बहुत से हैं, परंतु उनका यहाँ लिखना एक-देशी और उनके निवासियों को अकारण चिढ़ाने का कारण हो सकता है।

शहरों के नाम बदलने की चाल बहुत पुरानी है। पतंजलि ने महाभाष्य में जहाँ मणिवाचक वैदूर्य शब्द को सिद्ध करनेवाले पाणिनि के सूत्र (४।३।८४) की व्याख्या की है वहाँ यह प्रश्न किया है कि यह मणि विदूर नगर में तो निकलता है नहीं, उसके पास बालवाय पर्वत में निकलता है; विदूर में लाकर तराशा जाता है—तो इसका नाम वैदूर्य कैसे? इसका समाधान आचार्य ने यों किया है कि 'बालवाय' शब्द की जगह विदूर आदेश हुआ मान लो, या उस पर्वत का विदूर ही नाम सही, नहीं तो 'जित्वरी' की तरह उपचार मानो जैसे व्यापारी लोग वाराणसी (बनारस) को जित्वरी (जीतनेवाली) नगरी कहते हैं वैसे ही बालवाय का नाम विदूर समझो।

* 'प्रकृत्या भगालम्' सूत्र (पाणिनि ६।२।१३७) के उदाहरणों में।

मांसाहारियों को अपने भक्ष्य के लिए 'तरकारी' शब्द का प्रयोग करते देख निरामिषाशी तरकारी के बदले 'साग' या 'भाजी' ही शब्द काम में लाते हैं। जहाँ कहीं पहली श्रेणी के लोग अपने भक्ष्य को 'भाजी' कहते हैं, वहाँ दूसरी श्रेणी के लोग 'तरकारी' को अपना लेते हैं। उर्दू पढ़ी हुई दिल्ली की नई बहू यदि 'खाना तैयार है, खाना खा लो, खाना पकाऊँ?' कहने लगती है तो वैष्णव श्वशुर शब्दों के साहचर्य से डरकर कानों पर हाथ रखता है। शाक को काटना या चीरना नहीं कहा जाता; बनारना या बँदारना (विदारण) कहा जाता है। और जिस शस्त्र से यह क्रिया की जाती है उसे 'छुरी' न कहकर केवल 'चाकू' कहते हैं।

संस्कृत में 'सपत्राकरण' और 'निष्पत्राकरण'—ये दो मुहावरे हैं। ये अत्यंत पीड़ा पहुँचाने के अर्थ में (अतिव्यथने) आते हैं। पाणिनि ने इनके लिए एक निराला सूत्र (५।४।६१) बनाया है। तीर के पिछले हिस्से में पंख लगे रहते हैं, जो तीर के दूर जाने में सहायक रहते हैं, यदि तीर शिकार के शरीर में इस जोर से धँस जाय कि पर ही पर बाहर रह जायँ तो इस क्रिया को सपत्राकरण कहते हैं। यदि बाण इस वेग से चलाया जाय कि परों सहित समूचा बाण पार निकल जाय, तो इस अर्थ में निष्पत्राकरण काम में आता है। टीकाकारों ने उदाहरणों में यही समझाया है, प्रत्युदाहरणों में यह भी दिखाया है कि सपत्र (पत्तों सहित) और निष्पत्र (पत्तों रहित) करने के अर्थ में सपत्राकरण और निष्पत्राकरण प्रयोग नहीं हो सकते, जैसे—

सपत्रं वृक्षं करोति जलसेवकः।
निष्पत्रं वृक्षतलं करोति भूमिशोधकः॥ —काशिका

यह अप्रकरण-चर्चा नहीं है। तमाशा देखिए। भाष्यकार पतंजलि बड़े मसखरे थे। वे कहते हैं कि जैसे कुम्हार के यहाँ जाकर कह आते हो कि घड़े की जरूरत है, घड़ा बना दो, वैसे वैयाकरण के यहाँ जाकर कोई नहीं कहता कि शब्द गढ़ दो, हमें प्रयोग करना है। प्रयोजन यह कि शब्दों का अर्थ और प्रयोग लोक-व्यवहार के अधीन है, वैयाकरणों के अधीन नहीं। व्याकरण को छोड़कर उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, सांनिध्य आदि भी तो शक्तिग्रह के कारण हैं।

राठौर राजा अमोघवर्ष प्रथम (ईसवी दसवीं शताब्दी) के समय में जैन शाकटायन ने एक व्याकरण बनाया और उसकी अमोघवृत्ति नामक टीका लिखी। इन दोनों मुहावरों पर जैन शाकटायन ठिठके। व्याकरण को भी तो हिंसा से बचाना चाहिए! रघुवंश आदि महाकाव्य कितने ही अच्छे हों, पर उनमें 'मिथ्यात्व' भरा पड़ा है। इसलिए धर्मशर्माभ्युदय या चंद्रप्रभाचरित पढ़ना चाहिए यह धारणा जैसे वर्तमान जैनों की है, वैसे ही उस समय भी थी। क्या करें! पहले 'निष्पत्राकरण' को लिया। इसका अर्थ तो सीधा हो गया 'पत्ते अलग करना'। पुराने वैयाकरणों के प्रत्युदाहरण की कौन चलाई, जिसमें इसी अर्थ का खंडन किया गया है, और जैन धर्म के अनुसार पत्तों और वृक्षों में भी तो जीव है और हरे वृक्ष के पत्ते काटने में उतना ही 'अतिव्यथन' है जितना असली 'निष्पत्राकरण' में। बस 'निष्पत्राकरण' का अर्थ हुआ वृक्ष के पत्ते उखाड़ना। अब रहा 'सपत्राकरण', यहाँ क्या करें? यहाँ वह लोकरीति काम आई जिस पर यह लेख लिखा गया है—

'सपत्राकरण' का अर्थ भी वृक्ष के पत्ते नोचना ही है, केवल मंगल के लिए निष्पत्र को सपत्र कह दिया है। जैसे दीपक बुझाने

को 'नँदना' कहते हैं !* इस प्रसंग में प्रोफेसर के० बी० पाठक ने यह सूचित किया है कि कन्नडी भाषा में 'नंदु' धातु का अर्थ बुझाना भी होता है।

ऊपर के कई उदाहरणों में हम 'नकुल' के 'सकुल' होने और 'बुझने' के 'नँदना' होने को देख चुके हैं। अतएव हम जैन शाकटायन की युक्ति की प्रशंसा करते हैं।

---

* सपत्राकरोतीत्यपि मंगलाभिप्रायेण वृक्षस्य निष्पत्रकरणमेवाख्यायते। यथा दीपो नन्दतीति विध्वंसः। (३, ४, ५०)

दसवीं सुरभि—

(श्री पं० रामचंद्र शुक्ल)

मनोभावों पर आपके अत्यंत विवेचनापूर्ण साहित्यिक निबंध प्रसिद्ध हैं। ऐसे विचारात्मक साहित्यिक निबंध और देखने में नहीं आए। विवेचन का मार्ग प्रशस्त करने के लिए आवश्यकता होती है सम्यक् विभाजन की। विभाजन का ऐसा वैशिष्ट्य इन निबंधों में मिलता है कि विषय का स्वरूप भलीभाँति हृदयंगम हो जाता है। इनमें 'व्याप्ति' का ऐसा सच्चा मानदंड सामने रखा गया है कि फैले हुए या उलझे हुए विषय को सिमटने या सुलझने में विलंब नहीं लगता। लक्षण दोनों प्रकार के मिलते हैं—तटस्थ भी और स्वरूप भी। पर अधिकतर स्वरूप-लक्षण से ही काम लिया गया है क्योंकि विषय की विवृति के लिए वही अधिक उपयोगी जान पड़ता है। स्थान स्थान पर विनोद के छींटे भी रहते है। व्यंग्यविनोद चुटीला पर गंभीर हुआ करता है और संकेत प्रसंगगर्भ।

उत्साह

दुःख के वर्ग में जो स्थान भय का है वही स्थान आनंद के वर्ग में उत्साह का है। भय में हम प्रस्तुत कठिन स्थिति के निश्चय से विशेष रूप में दुखी और कभी-कभी उस स्थिति से अपने को दूर रखने के लिए प्रयत्नवान् भी होते हैं। उत्साह में हम आनेवाली कठिन स्थिति के भीतर साहस के अवसर के निश्चय द्वारा प्रस्तुत कर्म-सुख की उमंग में अवश्य प्रयत्नवान् होते हैं। उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ-साथ कर्म में प्रवृत्त होने के आनंद का योग रहता है। साहस-पूर्ण आनंद की उमंग का नाम उत्साह है। कर्म-सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।

जिन कर्मों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है उन सबके प्रति उत्कंठापूर्ण आनंद उत्साह के अंतर्गत लिया जाता है। कष्ट या हानि के भेद के अनुसार उत्साह के भी भेद हो जाते हैं। साहित्य-मीमांसकों ने इसी दृष्टि से युद्धवीर, दानवीर, दयावीर इत्यादि भेद किए हैं। इनमें सबसे प्राचीन और प्रधान युद्धवीरता है, जिसमें आघात, पीड़ा क्या, मृत्यु तक की परवा नहीं रहती। इस प्रकार की वीरता का प्रयोजन अत्यंत प्राचीन काल से पड़ता चला आ रहा है, जिसमें साहस और प्रयत्न दोनों चरम उत्कर्ष पर पहुँचते हैं। केवल कष्ट या पीड़ा सहन करने के साहस में ही उत्साह का स्वरूप स्फुरित नहीं होता। उसके साथ आनंदपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा का योग चाहिए।

बिना बेहोश हुए भारी फोड़ा चिराने को तैयार होना साहस कहा जायगा, पर उत्साह नहीं। इसी प्रकार चुपचाप बिना हाथ-पैर हिलाए घोर प्रहार सहन के लिए तैयार रहना साहस और कठिन से कठिन प्रहार सहकर भी जगह से न हटना धीरता कही जायगी। ऐसी साहस और धीरता को उत्साह के अंतर्गत तभी ले सकते हैं जब कि साहसी या धीर उस काम को आनंद के साथ करता चला जायगा, जिसके कारण उसे इतने प्रहार सहने पड़ते हैं। सारांश यह कि आनंदपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा में ही उत्साह का दर्शन होता है; केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस में नहीं। धृति और साहस दोनों का उत्साह के बीच संचरण होता है।

दानवीर में अर्थ-त्याग का साहस अर्थात् उसके कारण होनेवाले कष्ट या कठिनता को सहने की क्षमता अंतर्हित रहती है। दानवीरता तभी कही जायगी जब दान के कारण दानी को अपने जीवन-निर्वाह में किसी प्रकार का कष्ट या कठिनता दिखाई देगी। इस कष्ट या कठिनता की मात्रा या संभावना जितनी ही अधिक होगी, दानवीरता उतनी ही अधिक समझी जायगी। पर इस अर्थ-त्याग के साहस के साथ ही जब तक पूर्ण तत्परता और आनंद के चिह्न न दिखाई पड़ेंगे तब तक उत्साह का स्वरूप न खड़ा होगा।

युद्ध के अतिरिक्त संसार में और भी ऐसे विकट काम होते हैं जिनमें घोर शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है और प्राण-हानि तक की संभावना रहती है। अनुसंधान के लिए तुषार-मंडित अभ्रभेदी अगम्य पर्वतों की चढ़ाई, ध्रुवदेश या सहारा के रेगिस्तान का सफर, क्रूर बर्बर जातियों के अज्ञात घोर जंगलों में प्रवेश इत्यादि भी पूरी वीरता और पराक्रम के

कर्म हैं। इनमें जिस आनंदपूर्ण तत्परता के साथ लोग प्रवृत्त हुए हैं वह भी उत्साह ही है।

मनुष्य शारीरिक कष्ट से ही पीछे हटनेवाला प्राणी नहीं है। मानसिक क्लेश की संभावना से भी वहुत से कर्मों की ओर प्रवृत्त होने का साहस उसे नहीं होता। जिन बातों से समाज के वीच उपहास, निंदा, अपमान इत्यादि का भय रहता है उन्हें अच्छी और कल्याणकारिणी समझते हुए भी वहुत से लोग उनसे दूर रहते हैं। प्रत्यक्ष हानि देखते हुए भी कुछ प्रथाओं का अनुसरण बड़े-वड़े समझदार तक इसीलिए करते चलते हैं कि उनके त्याग से वुरे कहे जायँगे। लोगों में उनका वैसा आदर-संमान न रह जायगा। उनके लिए मानग्लानि का कष्ट सब शारीरिक क्लेशों से वढ़कर होता है। जो लोग मान-अपमान का कुछ भी ध्यान न करके निंदास्तुति की कुछ भी परवा न करके किसी प्रचलित प्रथा के विरुद्ध पूर्ण तत्परता और प्रसन्नता के साथ कार्य करते जाते हैं वे एक ओर तो उत्साही और वीर कहलाते हैं दूसरी ओर भारी वेहया।

1951 किसी शुभ परिणाम पर दृष्टि रखकर निंदा-स्तुति, मान-अपमान आदि की कुछ परवा न करके प्रचलित प्रथाओं का उल्लंघन करनेवाले वीर या उत्साही कहलाते हैं, यह देखकर वहुत से लोग केवल इस विरुद के लोभ में ही अपनी उछल-कूद दिखाया करते हैं। वे केवल उत्साही या साहसी कहे जाने के लिए ही चली आती हुई प्रथाओं को तोड़ने की धूम मचाया करते हैं। शुभ या अशुभ परिणाम से उनसे कोई मतलब नहीं; उसकी ओर उनका ध्यान लेशमात्र नहीं रहता। जिस पक्ष के वीच की सुख्याति का वे अधिक महत्त्व समझते हैं उसकी वाहवाही से उत्पन्न आनंद की चाह में वे दूसरे पक्ष के वीच की निंदा या

अपमान की कुछ परवा नहीं करते। ऐसे ओछे लोगों के साहस या उत्साह की अपेक्षा उन लोगों का उत्साह या साहस—भाव की दृष्टि से—कहीं अधिक मूल्यवान् है जो किसी प्राचीन प्रथा की—चाहे वह वास्तव में हानिकारिणी ही हो—उपयोगिता का सच्चा विश्वास रखते हुए प्रथा तोड़नेवालों की निंदा, उपहास, अपमान आदि सहा करते हैं।

समाज-सुधार के वर्तमान आंदोलनों के बीच जिस प्रकार सच्ची अनुभूति से प्रेरित उच्चाशय और गंभीर पुरुष पाए जाते हैं उसी प्रकार तुच्छ मनोवृत्तियों द्वारा प्रेरित साहसी और दयावान् भी बहुत मिलते हैं। मैंने कई छिछोरों और लंपटों को विधवाओं की दशा पर दया दिखाते हुए उनके पापाचार के बड़े लंबे-चौड़े दास्तान हरदम सुनते-सुनाते पाया है। ऐसे लोग वास्तव में काम-कथा के रूप में ऐसे वृत्तांतों का तन्मयता के साथ कथन और श्रवण करते हैं। इस ढाँचे के लोगों से सुधार के कार्य में कुछ सहायता पहुँचने के स्थान पर बाधा पहुँचने की संभावना रहती है। 'सुधार' के नाम पर साहित्य के क्षेत्र में भी ऐसे लोग गंदगी फैलाते पाए जाते हैं।

उत्साह की गिनती अच्छे गुणों से होती है। किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम के विचार से होता है। वही उत्साह जो कर्तव्य कर्मों के प्रति इतना सुंदर दिखाई पड़ता है, अकर्तव्य कर्मों की ओर होने पर वैसा श्लाघ्य नहीं प्रतीत होता। आत्मरक्षा, पररक्षा, देशरक्षा आदि के निमित्त साहस की जो उमंग देखी जाती है उसके सौंदर्य को परपीड़न, डकैती आदि कर्मों का साहस कभी नहीं पहुँच सकता। यह बात होते हुए भी विशुद्ध उत्साह या साहस

की प्रशंसा संसार में थोड़ी-बहुत होती ही है। अत्याचारियों या डाकुओं के शौर्य और साहस की कथाएँ भी लोग तारीफ करते हुए सुनते हैं।

अब तक उत्साह का प्रधान रूप ही हमारे सामने रहा, जिसमें साहस का पूरा योग रहता है। पर कर्ममात्र के संपादन में जो तत्परतापूर्ण आनंद देखा जाता है वह भी उत्साह ही कहा जाता है। सब कामों में साहस अपेक्षित नहीं होता, पर थोड़े-बहुत आराम, विश्राम, सुबीते इत्यादि का त्याग सबमें करना पड़ता है; और कुछ नहीं तो उठकर बैठना, खड़ा होना या दस-पाँच कदम चलना ही पड़ता है। जब तक आनंद का लगाव किसी क्रिया, व्यापार या उसकी भावना के साथ नहीं दिखाई पड़ता तब तक उसे 'उत्साह' की संज्ञा प्राप्त नहीं होती। यदि किसी प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुपचाप ज्यों के त्यों आनंदित होकर बैठे रह जायँ या थोड़ा हँस भी दें तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जायगा। हमारा उत्साह तभी कहा जायगा जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे, उससे मिलने के लिए दौड़ पड़ेंगे और ठहरने आदि के प्रबंध में प्रसन्न-मुख इधर-उधर आते-जाते दिखाई देंगे। प्रयत्न और कर्मसंकल्प उत्साह नामक आनंद के नित्य लक्षण हैं।

प्रत्येक कर्म में थोड़ा या बहुत बुद्धि का योग रहता है। कुछ कर्मों में तो बुद्धि की तत्परता और शरीर की तत्परता दोनों बराबर साथ-साथ चलती हैं। उत्साह की उमंग जिस प्रकार हाथ-पैर चलवाती है उसी प्रकार बुद्धि से भी काम कराती है। ऐसे उत्साहवाले वीर को कर्मवीर कहना चाहिए या बुद्धिवीर—यह प्रश्न मुद्राराक्षस नाटक बहुत अच्छी तरह

हमारे सामने लाता है। चाणक्य और राक्षस के बीच जो चोटें चली हैं वे नीति की हैं—शस्त्र की नहीं। अतः विचार करने की बात यह है कि उत्साह की अभिव्यक्ति बुद्धि-व्यापार के अवसर पर होती है अथवा बुद्धि द्वारा निश्चित उद्योग में तत्पर होने की दशा में। हमारे देखने में तो उद्योग की तत्परता में ही उत्साह की अभिव्यक्ति होती है; अतः कर्मवीर ही कहना ठीक है।

बुद्धिवीर के दृष्टांत कभी-कभी हमारे पुराने ढंग के शास्त्रार्थों में देखने को मिल जाते हैं। जिस समय किसी भारी शास्त्रार्थी पंडित से भिड़ने के लिए कोई विद्यार्थी आनंद के साथ सभा में आगे आता है उस समय उसके बुद्धि-साहस की प्रशंसा अवश्य होती है। वह जीते या हारे, बुद्धिवीर समझा ही जाता है। इस जमाने में वीरता का प्रसंग उठाकर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी जायगी। ये वाग्वीर आजकल बड़ी बड़ी सभाओं के मंचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाए हुए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाए जाते हैं और काफी तादाद में।

थोड़ा यह भी देखना चाहिए कि उत्साह में ध्यान किस पर रहता है—कर्म पर, उसके फल पर अथवा व्यक्ति या वस्तु पर। हमारे विचार में उत्साही वीर का ध्यान आदि से अंत तक पूरी कर्म-शृंखला पर से होता हुआ उसकी सफलता-रूपी समाप्ति तक फैला रहता है। इसी ध्यान से जो आनंद की तरंगें उठती हैं वे ही सारे प्रयत्न को आनंदमय कर देती हैं। युद्धवीर में विजेतव्य जो आलंबन कहा गया है उसका अभिप्राय यही है कि विजेतव्य कर्मप्रेरक के रूप में वीर के ध्यान में स्थित रहता है। वह कर्म के स्वरूप का भी निर्धारण करता है। पर आनंद और साहस के मिश्रित भाव का सीधा लगाव उसके साथ नहीं

रहता। सच पूछिए तो वीर के उत्साह का विषय विजय-विधायक कर्म या युद्ध ही रहता है। दानवीर, दयावीर और धर्मवीर पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। दान दयावश, श्रद्धावश या कीर्ति-लोभवश दिया जाता है। यदि श्रद्धावश दान दिया जा रहा है तो दानपात्र वास्तव में श्रद्धा का और यदि दयावश दिया जा रहा है तो पीड़ित यथार्थ में दया का विषय या आलंबन ठहरता है। अतः उस श्रद्धा या दया की प्रेरणा से जिस कठिन या दुस्साध्य कर्म की प्रवृत्ति होती है उसी की ओर उत्साही का साहसपूर्ण आनंद उन्मुख कहा जा सकता है। अतः और रसों में आलंबन का स्वरूप जैसा निर्दिष्ट रहता है वैसा वीर रस में नहीं। बात यह है कि उत्साह एक यौगिक भाव है जिसमें साहस और आनंद का मेल रहता है।

जिस व्यक्ति या वस्तु पर प्रभाव डालने के लिए वीरता दिखाई जाती है उसकी ओर उन्मुख कर्म होता है और कर्म की ओर उन्मुख उत्साह नामक भाव होता है। सारांश यह कि किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ उत्साह का सीधा लगाव नहीं होता। समुद्र लाँघने के लिए जिस उत्साह के साथ हनूमान् उठे हैं उसका कारण समुद्र नहीं, समुद्र लाँघने का विकट कर्म है। कर्म-भावना ही उत्साह उत्पन्न करती है, वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।

किसी कर्म के संबंध में जहाँ आनंदपूर्ण तत्परता दिखाई पड़ी कि हम उसे उत्साह कह देते हैं। कर्म के अनुष्ठान में जो आनंद होता है उसका विधान तीन रूपों में दिखाई पड़ता है—

१—कर्म-भावना से उपन्न,

२—फल-भावना से उत्पन्न और

३—आगंतुक, अर्थात् विषयांतर से प्राप्त।

इनमें कर्म-भावना-प्रसूत आनंद को ही सच्चे वीरों का आनंद समझना चाहिए, जिसमें साहस का प्रयोग प्रायः बहुत अधिक रहा करता है। सच्चा वीर जिस समय मैदान में उतरता है उसी समय उसमें उतना आनंद भरा रहता है जितना औरों को विजय या सफलता प्राप्त करने पर होता है। उसके सामने कर्म और फल के बीच या तो कोई अंतर होता ही नहीं या बहुत सिमटा हुआ होता है। इसी से कर्म की ओर वह उसी झोंक से लपकता है जिस झोंक से साधारण लोग फल की ओर लपका करते हैं। इसी कर्म-प्रवर्तक आनंद की मात्रा के हिसाब से शौर्य और साहस का स्फुरण होता है।

फल की भावना से उत्पन्न आनंद भी साधक कर्मों की ओर हर्ष और तत्परता के साथ प्रवृत्त करता है। पर फल का लोभ जहाँ प्रधान रहता है वहाँ कर्म-विषयक आनंद उसी फल की भावना की तीव्रता और मंदता पर अवलंबित रहता है। (उद्योग के प्रवाह के बीच जब जब फल की भावना मंद पड़ती है—उसकी आशा कुछ धुँधली पड़ जाती है, तब तब आनंद की उमंग हो जाती है और उसी के साथ उद्योग में भी शिथिलता आ जाती है। पर कर्म-भावना-प्रधान उत्साह बराबर एकरस रहता है। फलासक्त उत्साही असफल होने पर खिन्न और दुःखी होता है; पर कर्मासक्त उत्साही केवल कर्मानुष्ठान के पूर्व की अवस्था में हो जाता है) अतः हम कह सकते हैं कि कर्म-भावना-प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है। फल-भावना-प्रधान उत्साह तो लोभ ही का एक प्रच्छन्न रूप है।

उत्साह वास्तव में उस फल की मिली-जुली अनुभूति है जिसकी प्रेरणा से तत्परता आती है। यदि फल दूर ही पर

दिखाई पड़े, उसकी भावना के साथ ही उसका लेश मात्र भी कर्म या प्रयत्न के साथ साथ लगाव न मालूम हो तो हमारे हाथ-पाँव कभी न उठें और उस फल के साथ हमारा संयोग ही न हो। इससे कर्म-शृङ्खला की पहली कड़ी पकड़ते ही फल के आनंद की भी कुछ अनुभूति होने लगती है। यदि हमें यह निश्चय हो जाय कि अमुक स्थान पर जाने से हमें किसी प्रिय व्यक्ति का दर्शन होगा तो उस निश्चय के प्रभाव से हमारी यात्रा भी अत्यंत प्रिय हो जायगी। हम चल पड़ेंगे और हमारे अंगों की प्रत्येक गति में प्रफुल्लता दिखाई देगी। यही प्रफुल्लता कठिन से कठिन कर्मों के साधन में भी देखी जाती है। वे कर्म भी प्रिय हो जाते हैं और अच्छे लगने लगते हैं। जब तक फल तक पहुँचनेवाला कर्म-पथ अच्छा न लगेगा तब तक केवल फल का अच्छा लगना कुछ नहीं। फल की इच्छा मात्र हृदय में रख-कर जो प्रयत्न किया जायगा वह अभावमय और आनंद-शून्य होने के कारण निर्जीव-सा होगा।

कर्म-रुचि-शून्य प्रयत्न में कभी-कभी इतनी उतावली और आकुलता होती है कि मनुष्य साधना के उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही में चूक जाता है। मान लीजिए कि एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को नीचे बहुत दूर तक गई हुई सीढ़ियाँ दिखाई दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने का ढेर मिलेगा। यदि उसमें इतनी सजीवता है कि उक्त सूचना के साथ ही वह उस स्वर्णराशि के साथ एक प्रकार के मानसिक संयोग का अनुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्ल और अंग सचेष्ट हो गए तो उसे एक-एक सीढ़ी स्वर्णमयी दिखाई देगी, एक-एक सीढ़ी उतरने में उसे आनंद मिलता जायगा,

एक-एक क्षण उसे सुख से बीतता हुआ जान पड़ेगा और वह प्रसन्नता के साथ उस स्वर्णराशि तक पहुँचेगा। इस प्रकार उसके प्रयत्न-काल को भी फलप्राप्ति-काल के अंतर्गत ही समझना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा और उसमें इच्छा मात्र ही उत्पन्न होकर रह जायगी, तो अभाव के बोध के कारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे झट से नीचे पहुँच जायँ। उसे एक-एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नहीं कि वह या तो हारकर बैठ जाय या लड़खड़ाकर मुँह के बल गिर पड़े।

फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है, चित्त में यही आता है कि कर्म बहुत कम या सरल करना पड़े और फल बहुत सा मिल जाय। श्रीकृष्ण ने कर्म-मार्ग से फलासक्ति की प्रबलता हटाने का बहुत ही स्पष्ट उपदेश दिया; पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदासीन हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गरमी में ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे, चार आने रोज का अनुष्ठान कराके व्यापार में लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धन-धान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या-क्या चाहने लगे। आसक्ति प्रस्तुत या उपस्थित वस्तु में ही ठीक कही जा सकती है। कर्म सामने उपस्थित रहता है, इससे आसक्ति उसी में चाहिए, फल दूर रहता है, इससे उसकी ओर कर्म का लक्ष्य ही काफी है। जिस आनंद से कर्म की उत्तेजना होती है और जो आनंद करते समय तक बराबर चला चलता है उसी का नाम उत्साह है।

कर्म के मार्ग पर आनंद-पूर्वक चलता हुआ उत्साही मनुष्य

यदि अंतिम फल तक न पहुँचे तो भी उसकी दशा कर्म न करनेवाले की अपेक्षा अधिकतर अवस्थाओं में अच्छी रहेगी; क्योंकि एक तो कर्म-काल में उसका जितना जीवन बीता वह संतोष या आनंद में बीता, उसके उपरांत फल की अप्राप्ति पर भी उसे यह पछतावा न रहा कि मैंने प्रयत्न नहीं किया। फल पहले से ही कोई बना-बनाया पदार्थ नहीं होता। अनुकूल प्रयत्न-क्रम के अनुसार उसके एक-एक अंग की योजना होती है। बुद्धि-द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित की हुई परंपरा का नाम ही प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्राणी बीमार है। वह वैद्यों के यहाँ से जब तक औषध ला-लाकर रोगी को देता जाता है और इधर-उधर दौड़-धूप करता जाता है तब तक उसके चित्त में जो संतोष रहता है—प्रत्येक नए उपचार के साथ जो आनंद का उन्मेष होता रहता है—वह उसे कदापि न प्राप्त होता, यदि वह रोता हुआ बैठा रहता। प्रयत्न की अवस्था में उसके जीवन का जितना अंश संतोष, आशा और उत्साह में बीता, अप्रयत्न की दशा में उतना ही अंश केवल शोक और दुःख में कटता। इसके अतिरिक्त रोगी के न अच्छे होने की दशा में भी वह आत्मग्लानि के उस कठोर दुःख से बचा रहेगा जो उसे जीवन भर यह सोच-सोचकर होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया।

कर्म में आनंद का अनुभव करनेवालों ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के उच्च कर्मों के विधान में ही एक ऐसा दिव्य आनंद भरा रहता है कि कर्ता को वे कर्म ही फल-स्वरूप लगते हैं। अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास और तुष्टि होती है वही लोकोपकारी कर्मवीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए

रुका नहीं रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो जाय; बल्कि उसी समय थोड़ा थोड़ा करके मिलने लगता है जब से वह कर्म की ओर हाथ बढ़ाता है।

कभी-कभी आनंद का मूल विषय तो कुछ और रहता है, पर उस आनंद के कारण एक ऐसी तत्परता उत्पन्न होती है जो बहुत-से कामों की ओर हर्ष के साथ अग्रसर करती है। इसी प्रसन्नता और तत्परता को देख लोग कहते हैं कि वे काम बड़े उत्साह से किए जा रहे हैं। यदि किसी मनुष्य को बहुत-सा लाभ हो जाता है या उसकी कोई बड़ी भारी कामना पूर्ण हो जाती है तो जो काम उसके सामने आते हैं उन सबको वह बड़े हर्ष और तत्परता के साथ करता है। उसके इस हर्ष और तत्परता को भी लोग साहस कहते हैं। इसी प्रकार किसी उत्तम फल या सुख-प्राप्ति की आशा या निश्चय से उत्पन्न आनंद, फलोन्मुख प्रयत्नों के अतिरिक्त और दूसरे व्यापारों के साथ संलग्न होकर, उत्साह के रूप में दिखाई पड़ता है। यदि हम किसी उद्योग में लगे हैं जिससे आगे चलकर हमें बहुत लाभ या सुख की आशा है तो हम उस उद्योग को तो उत्साह के साथ करते ही हैं, अन्य कार्यों में भी प्रायः अपना उत्साह दिखा देते हैं।

यह बात उत्साह ही में नहीं, अन्य मनोविकारों में भी बराबर पाई जाती है। यदि हम किसी बात पर क्रुद्ध बैठे हैं और इसी बीच में कोई दूसरा आकर हमसे कोई बात सीधी तरह भी पूछता है तो भी हम उस पर झुँझला उठते हैं। इस झुँझलाहट का न तो कोई निर्दिष्ट कारण होता है न उद्देश्य। यह केवल क्रोध की स्थिति से व्याघात को रोकने की क्रिया है, क्रोध की रक्षा का प्रयत्न है। इस झुँझलाहट द्वारा हम

यह प्रकट करते हैं कि हम क्रोध में हैं और हम क्रोध ही में रहना चाहते हैं। क्रोध को बनाए रखने के लिए हम उन बातों से भी क्रोध ही संचित करते हैं जिनसे दूसरी अवस्था में हमीं विपरीत भाव प्राप्त करते। इसी प्रकार यदि हमारा चित्त किसी विषय में उत्साहित रहता है तो हम अन्य विषयों में भी अपना उत्साह दिखा देते हैं। यदि हमारा मन बढ़ा हुआ रहता है तो हम बहुत से काम प्रसन्नता-पूर्वक करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसी बात का विचार करके सलामसाधक लोग हाकिमों से मुलाकात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिजाज पूछ लिया करते हैं।

*आत्मबल वाले महान व्यक्ति के एवं आपकी गाथा गानी नहीं पड़ती।

मनोबल का विषय
हमारी प्रकृति बहुत कुछ वश में रहती है
लौकिक भावनाएं अधिक हो

महान प्रकृति छिपी रहती है जो अवसर आने पर ही प्रगट होती है

ग्यारहवीं सुरभि—

(श्री सरदार पूर्णसिंह)

आपके पाँच ही लेख देखने में आए हैं, पर उनकी आन-बान निराली है, उनमें प्रभविष्णुता है। ऐसी शैली में, ऐसी सबल भाषा में, ऐसे निबंध किसी ने नहीं लिखे। आरंभ में व्यंजकता की सच्ची विभूति के दर्शन गद्य में कराने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। वाक्यों की लघुता, भावों की क्षिप्रता, शैली की तरलता और विषय की नूतनता—इनमें सभी कुछ उपादेय है। वाह्य की ओर विशेष दृष्टि रखने से मनुष्य का अभ्यंतर कलुषित हो रहा है। जिसका अभ्यंतर स्वच्छ है उसका बाह्य कलुषित रह नहीं सकता, यदि रहे भी तो वह चंद्र-कलंक की भाँति नगण्य होगा। जिसका शील हिल गया वह किसी पर अपना प्रभाव जमा नहीं सकता। जिसका आचरण बना है वह सृष्टि का भूषण है; भले ही उसके पास धन, विद्या, बल आदि भौतिक ऐश्वर्य या बौद्धिक विभूति न हो। अपने कर्तव्य की निष्ठा मनुष्य को सच्चा मनुष्य क्या, देवता बना सकती है; आत्मावलंबन की आवश्यकता है, परसुखापेक्षिता की नहीं। सत् में असत् और असत् में सत् दोनों के दर्शन लेखक ने कराए हैं। मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनने का संकेत किया है, जो साहित्य का मुख्य कार्य है।

आचरण की सभ्यता

विद्या, कला, कविता, साहित्य, धन और राजत्व से भी आचरण की सभ्यता अधिक ज्योतिष्मती है। आचरण की सभ्यता को प्राप्त करके एक कंगाल आदमी राजाओं के दिलों पर भी अपना प्रभुत्व जमा सकता है। इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और संगीत को अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है, विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्र-कला मौन राग अलापने लग जाती है, वक्ता चुप हो जाता है, लेखक की लेखनी थम जाती है, मूर्ति बनाने-वाले के सामने नए कपोल, नए नयन और नवीन छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।

आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। इस भाषा का निघंटु शुद्ध श्वेतपत्रोंवाला है। इसमें नाम मात्र के लिए भी शब्द नहीं। यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है, व्याख्यान देता हुआ भी व्याख्यान के पीछे छिपा है, राग गाता हुआ भी राग के सुर के भीतर पड़ा है। मृदु वचनों की मिठास में आचरण की सभ्यता मौन रूप से खुली हुई है। नम्रता, दया, प्रेम और उदारता सबके सब सभ्याचरण की भाषा के मौन व्याख्यान हैं। मनुष्य के जीवन पर मौन व्याख्यान का प्रभाव चिरस्थायी होता है और उसकी आत्मा का एक अंग हो जाता है।

न काला, न नीला, न पीला, न सुफेद, न पूर्वी, न पश्चिमी, न उत्तरी, न दक्षिणी, बे-नाम, बे-निशान, बे मकान—विशाल

आत्मा के आचरण में मौनरूपिणी सुगंध सदा प्रसरित हुआ करती है। इसके मौन से प्रसूत प्रेम और पवित्रता-धर्म सारे जगत् का कल्याण करके विस्तृत होते हैं। इसकी उपस्थिति से मन और हृदय की ऋतु बदल जाती है। तीक्ष्ण गरमी से जले-भुने व्यक्ति आचरण के बादलों की बूँदाबाँदी से शीतल हो जाते हैं। मानसोत्पन्न शरदृतु से क्लेशातुर हुए पुरुष इसकी सुगंध-मय अटल वसंत ऋतु के आनंद का पान करते हैं। आचरण के नेत्र के एक अश्रु से जगत् भर के नेत्र भीग जाते हैं। आचरण के आनंद-नृत्य से उन्मदिष्णु होकर वृक्षों और पर्वतों तक के हृदय नृत्य करने लगते हैं। आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक नया जीवन प्राप्त होता है। नए नए विचार स्वयं ही प्रगट होने लगते हैं। सूखे काष्ठ सचमुच ही हरे हो जाते हैं। सूखे कूपों में जल भर आता है। नए नेत्र मिलते हैं। कुल पदार्थों के साथ एक नया मैत्री-भाव फूट पड़ता है। सूर्य, जल, वायु, पुष्प, पत्थर, घास, नर, नारी और बालक तक में एक अश्रुतपूर्व सुंदर मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं।

मौनरूपी व्याख्यान की महत्ता इतनी बलवती, इतनी अर्थवती और इतनी प्रभाववती होती है कि उसके सामने क्या मातृभाषा, क्या साहित्यभाषा और क्या अन्य देश की भाषा—सबकी सब तुच्छ प्रतीत होती हैं। अन्य कोई भाषा दिव्य नहीं, केवल आचरण की मौनभाषा ही ईश्वरीय है। विचार करके देखो, मौन व्याख्यान किस तरह आपके हृदय की नाड़ी में सुंदरता पिरो देता है। वह व्याख्यान ही क्या जिसने हृदय की धुन को—मन के लक्ष्य को—ही न बदल दिया। चंद्रमा की मंद मंद हँसी का तारागण के कटाक्षपूर्ण प्राकृतिक

मौन व्याख्यान का प्रभाव किसी कवि के दिल में घुसकर देखो। सूर्यास्त होने के पश्चात्, श्री केशवचंद्र सेन और महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर ने सारी रात, एक क्षण की तरह, गुजार दी, यह तो कल की बात है। कमल और नरगिस में नयन देखनेवाले नेत्रों से पूछो कि मौन व्याख्यान की प्रभुता कितनी दिव्य है।

प्रेम की भाषा शब्दरहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की भाषा भी शब्दरहित है। जीवन का तत्त्व भी शब्द से परे है। सच्चा आचरण—प्रभाव, शील, अचल-स्थिति-संयुक्त आचरण—न तो साहित्य के लंबे व्याख्यानों से गठा जा सकता है, न वेद की श्रुतियों के मीठे उपदेश से, न इंजील से, न कुरान से, न धर्मचर्चा से, न केवल सत्संग से। जीवन के अरण्य में घुसे हुए पुरुष के हृदय पर, प्रकृति और मनुष्य के जीवन के मौन व्याख्यानों के यत्न से, सुनार के छोटे हथौड़े की मंद मंद चोटों की तरह आचरण का रूप प्रत्यक्ष होता है। बर्फ का दुपट्टा बाँधे हुए हिमालय इस समय तो अति सुंदर, अति ऊँचा और गौरवान्वित मालूम होता है; परंतु प्रकृति ने अगणित शताब्दियों के परिश्रम से रेत का एक एक परमाणु समुद्र के जल में डुबो डुबो कर और उनको अपने विचित्र हथौड़े से सुडौल करके इस हिमालय के दर्शन कराए हैं। आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊँचे कलश वाला मंदिर है। यह वह आम का पेड़ नहीं जिसको मदारी एक क्षण में, तुम्हारी आँखों में धूल डालकर, अपनी हथेली पर जमा दे। इसके बनने में अनंत काल लगा है। पृथ्वी बन गई, सूर्य बन गया, तारागण आकाश में दौड़ने लगे। परंतु अभी तक आचरण के सुंदर रूप के पूर्ण दर्शन नहीं हुए। कहीं कहीं उसकी अत्यल्प छटा अवश्य दिखाई देती है।

पुस्तकों में लिखे हुए नुसखों से तो और भी अधिक बदहजमी हो जाती है। सारे वेद और शास्त्र भी यदि घोल कर पी लिए जायँ तो भी आदर्श आचरण की प्राप्ति नहीं होती। आचरण-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले को तर्क-वितर्क से कुछ भी सहायता नहीं मिलती। शब्द और वाणी तो साधारण जीवन के चोचले हैं। ये आचरण की गुप्त गुहा में नहीं प्रवेश कर सकते। वहाँ इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वेद इस देश में रहनेवालों के विश्वासानुसार ब्रह्मवाणी हैं; परंतु इतना काल व्यतीत हो जाने पर भी आज तक वे समस्त जगत् की भिन्न-भिन्न जातियों को संस्कृत भाषा न बुला सके—न समझा सके—न सिखा सके। यह बात हो कैसे? ईश्वर तो सदा मौन है। ईश्वरीय मौन शब्द और भाषा का विषय नहीं। वह केवल आचरण के कान में गुरुमंत्र फूँक सकता है। वह केवल ऋषि के अंतःकरण में वेद का ज्ञानोदय कर सकता है। किसी का आचरण वायु के झोंके से हिल जाय तो हिल जाय, परंतु साहित्य और शब्द की गोलंदाजी और आँधी से उसके सिर के एक बाल तक का बाँका न होना एक साधारण बात है। पुष्प की कोमल पँखड़ी के स्पर्श से किसी को रोमांच हो जाय; जल की शीतलता से क्रोध, विषयवासना शांत हो जायँ; बर्फ के दर्शन से पवित्रता आ जाय; सूर्य की ज्योति से नेत्र खुल जायँ—परंतु अँगरेजी भाषा का व्याख्यान—चाहे वह कारलायल ही का लिखा हुआ क्यों न हो—बनारस में पंडितों के लिए राम-रौला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पंडितों के द्वारा की गई चर्चाएँ और शास्त्रार्थ संस्कृत-ज्ञानहीन पुरुषों के लिए स्टीम इंजिन के फप् फप् शब्द

से अधिक अर्थ नहीं रखते। यदि आप कहें कि व्याख्यानों द्वारा, उपदेशों द्वारा, धर्मचर्चा द्वारा, कितने ही पुरुषों और नारियों के हृदय पर जीवनव्यापी प्रभाव पड़ा है, तो उत्तर यह है कि प्रभाव शब्द का नहीं पड़ता—प्रभाव तो सदा सदाचरण का पड़ता है। (साधारण उपदेश तो हर गिरजे, हर मठ और हर मसजिद में होते हैं, परंतु उनका प्रभाव हम पर तभी पड़ता है जब गिरजे का पादड़ी स्वयं ईसा होता है, मंदिर का पुजारी स्वयं ब्रह्मर्षि होता है, मसजिद का मुल्ला स्वयं पैगंबर और रसूल होता है।)

यदि एक ब्राह्मण किसी डूबती कन्या की रक्षा के लिए, चाहे वह कन्या किसी जाति की हो, किसी मनुष्य की हो, किसी देश की हो—अपने आपको गंगा में फेंक दे—चाहे फिर उसके प्राण यह काम करने में रहें या जायँ तो इस कार्य के प्रेरक आचरण की मौनमयी भाषा किसी देश में, किसी जाति में और किसी काल में, कौन नहीं समझ सकता? प्रेम का आचरण—क्या पशु और क्या मनुष्य—जगत् भर के सभी चराचर आप ही आप समझ लेते हैं। जगत् भर के बच्चों की भाषा इस भाष्यहीन भाषा का चिह्न है। बालकों के इस शुद्ध मौन का नाद और हास्य भी सब देशों में एक ही सा पाया जाता है।

एक दफे एक राजा जंगल में शिकार खेलते खेलते रास्ता भूल गया। उसके साथी पीछे रह गए। घोड़ा उसका मर गया। बंदूक हाथ में रह गई। रात का समय आ पहुँचा। देश बर्फानी, रास्ते पहाड़ी। पानी बरस रहा है। रात अँधेरी है, ओले पड़ रहे हैं। ठंडी हवा उसकी हड्डियों तक को हिला रही है। प्रकृति ने, इस घड़ी, इस राजा को अनाथ बालक से

भी अधिक सरोसामान से हीन कर दिया। इतने में दूर, एक पहाड़ी की चोटी के नीचे टिमटिमाती हुई बत्ती की लौ दिखाई दी। कई मील तक पहाड़ के ऊँचे-नीचे उतार-चढ़ाव को पार करके थका हुआ—भूखा और सर्दी से ठिठरा हुआ राजा उस बत्ती के पास पहुँचा। यह एक गरीब पहाड़ी किसान की कुटी थी। इसमें किसान, उसकी स्त्री और उनके दो-तीन बच्चे रहते थे। किसान शिकारी राजा को अपनी झोपड़ी में ले गया। आग जलाई। उसके वस्त्र सुखाए। दो मोटी मोटी रोटियाँ और साग उसके आगे रखा। उसने खुद भी खाया और शिकारी को भी खिलाया। ऊन और रीछ के चमड़े के नरम और गरम बिछौने पर उसने शिकारी को सुलाया। अपने बे-बिछौने की भूमि पर सो रहा। धन्य है, हे मनुष्य! तू ईश्वर से क्या कम है? तू भी तो पवित्र और निष्काम रक्षा का कर्त्ता है। तू भी आपन्न जनों का आपत्ति से उद्धार करनेवाला है।

शिकारी कई रूसों का जार ही क्यों न हो, इस समय तो एक रोटी और गरम बिस्तर पर, अग्नि की एक चिनगारी और टूटी छत पर—उसकी सारी राजधानियाँ बिक गईं। अब यदि वह अपना सारा राज्य उस किसान को, उसकी अमूल्य रक्षा के मोल में, देना चाहे तो भी वह तुच्छ है। अब उस निर्धन और निरक्षर पहाड़ी किसान की दया और उदारता के कर्म के मौन व्याख्यान को देखो। चाहे शिकारी को पता लगे, परंतु राजा के अंतस् के मौन जीवन में उसने ईश्वरीय औदार्य की कलम गाड़ दी। शिकार में अचानक रास्ता भूल जाने के कारण जब इस राजा को ज्ञान का एक परमाणु मिल गया तब कौन कह सकता है कि शिकारी का

जीवन अच्छा नहीं। क्या जंगल के ऐसे जीवन में, इसी प्रकार के व्याख्यानों से, मनुष्य का जीवन, शनैः शनैः नया रूप धारण नहीं करता ? जिसने शिकारी के जीवन के दुःखों को नहीं सहन किया उसको क्या पता कि ऐसे जीवन की तह में किस प्रकार के और किस मिठास के आचरण का विकास होता है। इसी तरह क्या एक मनुष्य के जीवन में और क्या एक जाति के जीवन में—पवित्रता और अपवित्रता भी जीवन के आचरण को भलीभाँति गढ़ती है—और उस पर भलीभाँति कुंदन करती है। जगाई और मधाई यदि पक्के लुटेरे न होते तो महाप्रभु चैतन्य के आचरण-संबंधी मौन व्याख्यान को ऐसी दृढ़ता से कैसे ग्रहण करते। नग्न नारी को स्नान करते देख सूरदासजी यदि कृष्णार्पण किए गए अपने हृदय को एक बार फिर उस नारी की सुंदरता निरखने में न लगाते और उस समय फिर एक बार अपवित्र न होते तो 'सूरसागर' में प्रेम का वह मौन व्याख्यान, आचरण का वह उत्तम आदर्श—कैसे दिखाई देता ? कौन कह सकता है कि जीवन की पवित्रता के प्रतिद्वंद्वी भाव से संसार के आचरणों में एक अद्भुत पवित्रता का विकास नहीं होता। यदि मेरी माडलिन वेश्या न होती तो कौन उसे ईसा के पास ले जाता और ईसा के मौन व्याख्यान के प्रभाव से किस तरह आज वह हमारी पूजनीया माता बनती ? कौन कह सकता है कि ध्रुव की सौतेली माता अपनी कठोरता से ही ध्रुव को अटल बनाने में वैसी ही सहायक नहीं हुई जैसी कि स्वयं ध्रुव की माता।

मनुष्य का जीवन इतना विशाल है कि उसके आचरण को रूप देने के लिए नाना प्रकार के ऊँच-नीच, भले-बुरे विचार, अमीरी और गरीबी, उन्नति और अवनति इत्यादि सहायता

पहुँचाते हैं। पवित्र अपवित्रता उतनी ही बलवती है, जितनी कि अपवित्र पवित्रता। जो कुछ जगत् में हो रहा है वह केवल आचरण के विकास के अर्थ हो रहा है। अंतरात्मा वही काम करती है जो वाह्य पदार्थों के संयोग का प्रतिबिंब होता है। जिनको हम पवित्रात्मा कहते हैं, क्या पता है किन किन कूपों से निकलकर वे अब उदय को प्राप्त हुए हैं? जिनको हम धर्मात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन किन अधर्मों को करके वे धर्म-ज्ञान को पा सके हैं? जिनको हम सभ्य कहते हैं और जो अपने जीवन में पवित्रता को ही सब कुछ समझते हैं, क्या पता है, वे कुछ काल पूर्व बुरी और अधर्म-पूर्ण अपवित्रता में लिप्त रहे हों? अपने जन्म-जन्मांतरों के संस्कारों से भरी हुई अंधकारमय कोठरी से निकलकर ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले हुए देश में जब तक अपना आचरण अपना नेत्र न खोल चुका हो तब तक धर्म के गूढ़ तत्त्व कैसे समझ में आ सकते हैं। नेत्र-रहित को सूर्य से क्या लाभ? हृदय-रहित को प्रेम से क्या लाभ? बहरे को राग से क्या लाभ? कविता, साहित्य, पीर, पैगंबर, गुरु, आचार्य, ऋषि आदि के उपदेशों से लाभ उठाने का यदि आत्मा में बल नहीं तो उनसे क्या लाभ? जब तक जीवन का बीज पृथ्वी के मल-मूत्र के ढेर में पड़ा है, अथवा जब तक वह खाद की गरमी से अंकुरित नहीं हुआ और प्रस्फुटित होकर उससे दो नए पत्ते ऊपर नहीं निकल आए, तब तक ज्योति और वायु उसके किस काम के?

जगत् के अनेक संप्रदाय अनदेखी और अनजानी वस्तुओं का वर्णन करते हैं; पर अपने नेत्र तो अभी माया-पटल से बंद हैं—और धर्मानुभव के लिए मायाजाल में उनका बंद होना

आवश्यक भी है। इस कारण मैं उनके अर्थ कैसे जान सकता हूँ ? वे भाव—वे आचरण जो उन आचार्यों के हृदय में थे और जो उनके शब्दों के अंतर्गत मौनावस्था में पड़े हुए हैं, उनके साथ मेरा संबंध, जब तक मेरा भी आचरण उसी प्रकार न हो जाय तब तक, हो ही कैसे सकता है ? ऋषि को तो मौन पदार्थ भी उपदेश दे सकते हैं; टूटे-फूटे शब्द भी अपने अर्थ भासित कर सकते हैं, तुच्छ से भी तुच्छ वस्तु उसकी आँखों में उसी महात्मा का चिन्ह है जिसका चिह्न उत्तम उत्तम पदार्थ हैं। राजा में फकीर छिपा है और फकीर में राजा। बड़े से बड़े पंडित में मूर्ख छिपा है और बड़े से बड़े मूर्ख में पंडित। वीर में कायर और कायर में वीर सोता है। पापी में महात्मा और महात्मा में पापी छिपा हुआ है।

यह आचरण, जो धर्म-संप्रदायों के अनुच्चारित शब्दों को सुनता है, हम में कहाँ ? जब वही नहीं तब फिर क्यों न ये संप्रदाय हमारे मानसिक महाभारतों के कुरुक्षेत्र बनें ? क्यों न अप्रेम, अपवित्रता, हत्या और अत्याचार इन संप्रदायों के नाम से हमारा खून करें ? कोई भी धर्म-संप्रदाय आचरण-रहित पुरुषों के लिए कल्याणकारक नहीं हो सकता और आचरणवाले पुरुषों के लिए सभी धर्म-संप्रदाय कल्याणकारक हैं। सच्चा साधु धर्म को गौरव देता है, धर्म किसी को गौरवान्वित नहीं करता।

आचरण का विकास जीवन का परमोद्देश है। आचरण के विकास के लिए नाना प्रकार की सामग्री का—जो संसार-संभूत शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में वर्तमान है उन सबका—क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के आचरण के विकास के साधनों के संबंध में विचार करना

होगा। आचरण के विकास के लिए जितने कर्म हैं उन सबको आचरण को संघटित करनेवाले धर्म के अंग मानना पड़ेगा। चाहे कोई कितना बड़ा महात्मा क्यों न हो वह निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि यों ही करो, और किसी तरह नहीं। आचरण की सभ्यता की प्राप्ति के लिए वह सबको एक पथ नहीं बता सकता। आचरण-शील महात्मा स्वयं भी किसी अन्य की बनाई हुई सड़क से नहीं आया, उसने अपनी सड़क स्वयं ही बनाई थी। इसी से उसके बनाए हुए रास्ते पर चलकर हम भी अपने आचरण को आदर्श के ढाँचे में नहीं ढाल सकते। हमें अपना रास्ता अपने ही जीवन की कुदाली की एक एक चोट से रात-दिन बनाना पड़ेगा। हर किसी को अपने देश-कालानुसार रामप्राप्ति के लिए अपनी नैया आप ही चलानी पड़ेगी।

यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो ऐसे ज्ञान ही से क्या प्रयोजन? जब तक मैं अपना हथौड़ा ठीक ठीक चलाता हूँ और रूपहीन लोहे को तलवार के रूप में गढ़ लेता हूँ तब तक यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो न होने दो। उस ज्ञान से मुझे प्रयोजन ही क्या? जब तक मैं अपना उद्धार ठीक और शुद्ध रीति से किए जाता हूँ तब तक यदि मुझे आध्यात्मिक पवित्रता का मान नहीं तो न होने दो। उससे सिद्धि ही क्या हो सकती है? जब तक किसी जहाज के कप्तान के हृदय में इतनी वीरता भरी हुई है कि वह महाभयानक समय में भी अपने जहाज को नहीं छोड़ता तब तक वह मेरी और तेरी दृष्टि में शराबी और स्त्रैण है तो उसे वैसा होने दो। उसकी बुरी बुरी बातों से हमें प्रयोजन ही क्या? आँधी हो—बरफ हो—बिजली की कड़क हो—समुद्र का

तूफान हो—वह दिन-रात आँख खोले अपने जहाज की रक्षा के लिए जहाज के पुल पर घूमता हुआ अपने धर्म का पालन करता है। वह अपने जहाज के साथ समुद्र में डूब जाता है; परंतु अपना जीवन बचाने के लिए कोई उपाय नहीं करता। क्या उसके आचरण का यह अंश मेरे-तेरे बिस्तर और आसन पर बैठे बिठाए कहे हुए निरर्थक शब्दों के भाव से कम महत्त्व का है?

न मैं किसी गिरजे में जाता हूँ और न किसी मंदिर में; न मैं नमाज पढ़ता हूँ और न रोजा ही रखता हूँ; न संध्या ही करता हूँ, न किसी आचार्य के नाम का मुझे पता है और न किसी के आगे मैंने सिर ही झुकाया है। इन सबसे प्रयोजन ही क्या और हानि भी क्या? मैं तो अपनी खेती करता हूँ; अपने हल और बैलों को प्रातःकाल उठकर प्रणाम करता हूँ; मेरा जीवन जंगल के पेड़ों और पक्षियों की संगति में बीतता है; आकाश के बादलों को देखते-देखते मेरा दिन निकल जाती है। मैं किसी को धोखा नहीं देता; हाँ, यदि मुझे कोई धोखा दे तो उससे मेरी कोई हानि नहीं। मेरे खेत में अन्न उग रहा है; मेरा घर अन्न से भरा है; बिस्तर के लिए मुझे एक कमली काफी है; कमर के लिए एक लँगोटी और सिर के लिए एक टोपी बस है। हाथ पाँव मेरे बलवान हैं; शरीर मेरा नीरोग है; भूख खूब लगती है; बाजरा और मकई, छाछ और दही, दूध और मक्खन मुझे और मेरे बच्चों के लिए खाने को मिल जाता है। क्या इस किसान की सादगी और सचाई में वह मिठास नहीं जिसकी प्राप्ति के लिए भिन्न भिन्न धर्म-संप्रदाय लंबी-चौड़ी और चिकनी-चुपड़ी बातों द्वारा दीक्षा दिया करते हैं?

जब साहित्य, संगीत और कला की अति ने रोम को घोड़े से उतारकर मखमल के गद्दों पर लिटा दिया—जब आलस्य और विषय-विकार की लंपटता ने जंगल और पहाड़ की साफ हवा के असभ्य और उद्दंड जीवन से रोमवालों का मुख मोड़ दिया तब रोम नरम तकियों और बिस्तरों पर ऐसा सोया कि अब तक न आप जागा और न कोई उसे जगा ही सका। ऐंगलो-सैकसन जाति ने जो उच्च पद प्राप्त किया वह उसने अपने समुद्र, जंगल और पर्वत से संबंध रखनेवाले जीवन से ही प्राप्त किया। इस जाति की उन्नति लड़ने-भिड़ने, मरने-मारने, लूटने और लूटे जाने, शिकार करने और शिकार होनेवाले जीवन का परिणाम है। लोग कहते हैं कि केवल धर्म ही जाति को उन्नत करता है। यह ठीक है, परंतु वह धर्मांकुर जो जाति को उन्नत करता है, इस असभ्य, कमीने और पाप-मय जीवन की गंदी राख की ढेर के ऊपर नहीं उगता है। मंदिरों और गिरजों की मंद-मंद टिमटिमाती हुई मोमबत्तियों की रोशनी से यूरोप इस उच्चावस्था को नहीं पहुँचा। वह कठोर जीवन, जिसको देश-देशांतरों को ढूँढ़ते फिरते रहने के बिना शांति नहीं मिलती, जिसकी अंतर्ज्वाला दूसरी जातियों को जीतने, लूटने-मारने और उन पर राज करने के बिना मंद नहीं पड़ती—केवल वही विशाल जीवन समुद्र की छाती पर मूँग दलकर और पहाड़ों को फाँदकर उनको उस महत्ता की ओर ले गया और ले जा रहा है। राबिन हुड की प्रशंसा में इँगलैंड के जो कवि अपनी सारी शक्ति खर्च देते हैं उन्हें तत्त्वदर्शी कहना चाहिए; क्योंकि राबिन हुड जैसे भौतिक पदार्थों से ही नेलसन और वेलिंगटन जैसे अँगरेज वीरों की हड्डियाँ तैयार हुई थीं।

लड़ाई के आजकल के सामान—गोले, बारूद, जंगी जहाज और तिजारती बेड़ों आदि—को देखकर कहना पड़ता है कि इनसे वर्तमान सभ्यता से भी कहीं अधिक उच्च सभ्यता का जन्म होगा।

यदि यूरोप के समुद्रों में जंगी जहाज मक्खियों की तरह न फैल जाते और यूरोप का घर-घर सोने और हीरे से न भर जाता तो वहाँ पदार्थ-विद्या के सच्चे आचार्य और ऋषि कभी भी न उत्पन्न होते। पश्चिमीय ज्ञान से मनुष्य मात्र को लाभ हुआ है। ज्ञान का वह सेहरा—बाहरी सभ्यता की अंतर्वर्तिनी आध्यात्मिक सभ्यता का वह मुकुट—जो आज मनुष्य-जाति ने पहन रक्खा है यूरोप को कदापि न प्राप्त होता, यदि धन और तेज को एकत्र करने के लिए यूरोप-निवासी इतने कमीने न बनते। यदि सारे पूर्वी जगत् ने इस महत्ता के लिए अपनी शक्ति से अधिक भी चंदा देकर सहायता की तो बिगड़ क्या गया? एक तरफ जहाँ यूरोप के जीवन का एक अंश असभ्य प्रतीत होता है—कमीना और कायरता से भरा हुआ मालूम होता है—वहीं दूसरी ओर यूरोप के जीवन का वह भाग, जिसमें विद्या और ज्ञान के ऋषियों का सूर्य चमक रहा है, इतना महान् है कि थोड़े ही समय में पहले अंश को मनुष्य अवश्य ही भूल जायँगे।

धर्म और आध्यात्मिक विद्या के पौधे को ऐसी आरोग्य-वर्धक भूमि देने के लिए, जिससे वह प्रकाश और वायु में खिलता रहे, सदा फूलता रहे, सदा फलता रहे, यह आवश्यक है कि बहुत से हाथ एक अनंत प्रकृति के ढेर को एकत्र करते रहें। धर्म की रक्षा के लिए क्षत्रियों को हमेशा कमर बाँधे हुए सिपाही बने रहने का भी तो यही अर्थ है। यदि कुल

समुद्र का जल उड़ा दो तो रेडियम धातु का एक कण कहीं हाथ लगेगा। आचरण का रेडियम—क्या एक पुरुष का, और क्या जाति का, और क्या एक जगत् का—सारी प्रकृति को खाद बनाए विना, सारी प्रकृति को हवा में उड़ाए विना, भला कब मिलने का है ? प्रकृति को मिथ्या करके नहीं उड़ाना है, उसे उड़ाकर मिथ्या करना है। समुद्रों में डोरा डालकर अमृत निकालना है। सो भी कितना ? जरा सा ! संसार की खाक छानकर आचरण का स्वर्ण हाथ आता है। क्या वैठे विठाए ही वह मिल सकता है ?

हिंदुओं का संवंध यदि किसी प्राचीन असभ्य जाति के साथ रहा होता तो उनके वर्तमान वंश में अधिक वलवान् श्रेणी के मनुष्य होते—तो उनके भी ऋषि पराक्रमी, जनरल और धीर-वीर पुरुष उत्पन्न होते। आजकल तो वे उपनिषदों के ऋषियों के पवित्रता-मय प्रेम के जीवन को देख-देखकर अहंकार में मग्न हो रहे हैं और दिन पर दिन अधोगति की ओर जा रहे हैं। यदि वे किसी जंगली जाति की संतान होते तो उनमें भी ऋषि और वलवान् योद्धा होते। ऋषियों को पैदा करने के योग्य असभ्य पृथ्वी वन जाना तो आसान है; परंतु ऋषियों को अपनी उन्नति के लिए राख और पृथ्वी वनाना कठिन है, क्योंकि ऋषि तो केवल अनंत प्रकृति पर सजते हैं; हमारी जैसी पुष्प-शय्या पर मुरझा जाते हैं। माना कि प्राचीन काल में, यूरोप में सभी असभ्य थे, परंतु आजकल तो हम असभ्य हैं। उनकी असभ्यता के ऊपर ऋषि-जीवन की उच्च सभ्यता फूल रही है और हमारे ऋषियों के जीवन के फूल की शय्या पर आजकल असभ्यता का रंग चढ़ा हुआ है। सदा ऋषि पैदा करते रहना, अर्थात् अपनी ऊँची चोटी के ऊपर

इन फूलों को सदा धारण करते रहना ही जीवन के नियमों का पालन करना है।

तारागणों को देखते देखते भारतवर्ष अब समुद्र में गिरा कि गिरा। एक कदम और, और धड़ाम से नीचे! कारण इसका केवल यही है कि यह अपने अटूट स्वप्न में देखता रहा है और निश्चय करता रहा है कि मैं रोटी के बिना जी सकता हूँ; हवा में पद्मासन जमा सकता हूँ; पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूँ। योगसिद्धि द्वारा सूर्य और ताराओं के गूढ़ भेदों को जान सकता हूँ, समुद्र की लहरों पर बेखटके सो सकता हूँ। यह इसी प्रकार के स्वप्न देखता रहा, परंतु अब तक न संसार ही की और न राम ही की दृष्टि में ऐसी एक भी बात सत्य सिद्ध हुई। यदि अब भी इसकी निद्रा न खुली तो बेधड़क शंख फूँक दो! कूच का घड़ियाल बजा दो! कह दो भारतवासियों का इस असार संसार से कूच हुआ।

लेखक का तात्पर्य केवल यह है कि आचरण केवल मन के स्वप्नों से कभी नहीं बना करता। उसका सिर तो शिलाओं के ऊपर घिस-घिसकर बनता है; उसके फूल तो सूर्य की गरमी और समुद्र के नमकीन पानी से बारंबार भींगकर और सूखकर अपनी लाली पकड़ते हैं।

हजारों साल से धर्म पुस्तकें खुली हुई हैं। अभी तक उनसे तुम्हें कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ। तो फिर अपने हठ में क्यों मर रहे हो? अपनी अपनी स्थिति को क्यों नहीं देखते? अपनी अपनी कुदाली हाथ में लेकर क्यों आगे नहीं बढ़ते? पीछे मुड़-मुड़कर देखने से क्या लाभ? अब तो खुले जगत् में अपने अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा छोड़ दो। तुममें से

हरएक को अपना अश्वमेध करना है। चलो तो सही। अपने आपकी परीक्षा करो।

धर्म के आचरण की प्राप्ति यदि ऊपरी आडंबरों से होती तो आजकल भारत-निवासी सूर्य के समान शुद्ध आचरणवाले हो जाते। भाई! माला से जप नहीं होता। गंगा नहाने से तो तप नहीं होता। पहाड़ों पर चढ़ने से प्राणायाम हुआ करता है; समुद्र में तैरने से नेती धुलती है; आँधी, पानी, और साधारण जीवन के ऊँच-नीच, गरमी-सरदी, गरीबी-अमीरी के झेलने से तप हुआ करता है। आध्यात्मिक धर्म के स्वप्नों की शोभा तभी भली लगती है जब आदमी अपने जीवन का धर्म पालन करे। खुले समुद्र में अपने जहाज में बैठकर ही समुद्र की आध्यात्मिक शोभा का विचार होता है। भूखे को तो चंद्र और सूर्य भी केवल आटे की बड़ी बड़ी दो रोटियाँ से प्रतीत होते हैं। कुटिया में बैठकर ही धूप, आँधी और बर्फ की दिव्य शोभा का आनंद आ सकता है। प्राकृतिक-सभ्यता के आने पर ही मानसिक-सभ्यता आती है और तभी स्थिर भी रह सकती है। मानसिक-सभ्यता के होने पर ही आचरण-सभ्यता की प्राप्ति संभव है, और तभी वह स्थिर भी हो सकती है। जब तक निर्धन पुरुष पाप से अपना पेट भरता है तब तक धनवान् पुरुष के शुद्ध आचरण की पूरी परीक्षा नहीं। इसी प्रकार जब तक अज्ञानी का आचरण अशुद्ध है, तब तक ज्ञानवान् के आचरण की पूरी परीक्षा नहीं—तब तक जगत् में, आचरण की सभ्यता का राज्य नहीं।

आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमें न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक। न उसमें विद्रोह है, न जंग ही का नामो-निशान है और न वहाँ कोई

ऊँचा है, न नीचा। न कोई वहाँ धनवान् है और न कोई वहाँ निर्धन। वहाँ तो प्रेम और एकता का अखंड राज्य रहता है।

जिस समय बुद्धदेव ने स्वयं अपने हाथों से हाफिज शीराजी का सीना उलटकर उसे मौन-आचरण का दर्शन कराया उस समय फारस में सारे बौद्धों को निर्वाण के दर्शन हुए और सब के सब आचरण की सभ्यता के देश को प्राप्त हो गए।

जब पैगंबर मुहम्मद ने ब्राह्मण को चीरा और उसके मौन आचरण को नंगा किया तब सारे मुसलमानों को आश्चर्य हुआ कि काफिर में मोमिन किस प्रकार गुप्त था। जब शिव ने अपने हाथ से ईसा के शब्दों को परे फेंककर उसकी आत्मा के नंगे दर्शन कराए तब हिंदू चकित हो गए कि वह नग्न करने अथवा नग्न होनेवाला उनका कौन सा शिव था। हम तो एक दूसरे में छिपे हुए हैं। हरएक पदार्थ को परमाणुओं में परिणत करके उसके प्रत्येक परमाणु में अपने आपको ढूँढ़ना—अपने आपको एकत्र करना—अपने आचरण को प्राप्त करना है। आचरण की प्राप्ति एकता की दशा की प्राप्ति है। चाहे फूलों की शय्या हो चाहे काँटों की; चाहे निर्धन हो चाहे धनवान्; चाहे राजा हो चाहे किसान; चाहे रोगी हो चाहे नीरोग, हृदय इतना विशाल हो जाता है कि उसमें सारा संसार बिस्तर लगाकर आनंद से आराम कर सकता है, जीवन आकाशवत् हो जाता है और नाना रूप और रंग अपनी अपनी शोभा में बेखटके निर्भय होकर स्थित रह सकते हैं। आचरणवाले नयनों का मौन व्याख्यान केवल यह है—"सब कुछ अच्छा है, सब कुछ भला है।" जिस समय आचरण की सभ्यता संसार में आती है उस समय मनुष्य को वेदध्वनि सुनाई देती है, नर-नारी पुष्पवत् खिलते जाते हैं, प्रभात हो जाता है, प्रभात का गजर बज जाता है, नारद की

वीणा अलापने लगती है, ध्रुव का शंख गूँज उठता है, प्रह्लाद का नृत्य होता है, शिव का डमरू बजता है, कृष्ण की बाँसुरी की धुन प्रारंभ हो जाती है। जहाँ ऐसे शब्द होते हैं, जहाँ ऐसे पुरुष रहते हैं, जहाँ ऐसी ज्योति होती है, वहीं आचरण की सभ्यता का सुनहरा देश है। वही देश मनुष्य का स्वदेश है। जब तक घर न पहुँच जाय, सोना अच्छा नहीं; चाहे वेदों में, चाहे इंजील में, चाहे कुरान में, चाहे त्रिपिटक में, चाहे इस स्थान में, चाहे उस स्थान में, कहीं भी सोना अच्छा नहीं। आलस्य मृत्यु है। लेख तो पेड़ों के चित्र सदृश होते हैं, पेड़ तो होते ही नहीं जो फल लावें। लेखक ने यह चित्र इसलिए अंकित किया है कि चित्र को देखकर शायद कोई असली पेड़ को जाकर देखने का यत्न करे।

—

बारहवीं सुरभि—

(श्री पं० पद्मसिंह शर्मा)

ब्रज-भाषा बहुत दिनों तक काव्य-भाषा रह चुकी है और अब भी उसमें पर्याप्त रचनाएँ होतीं हैं, यद्यपि वे चटक-मटक के साथ छपकर पुस्तक रूप में सामने नहीं आतीं। ब्रज प्रांत और बैसवाड़े के न जाने कितने कवि अब तक उसी परंपरा का पालन करते चल रहे हैं। यद्यपि अनेक समर्थ कवियों ने खड़ी बोली का बहुत कुछ परिष्कार कर डाला है और उसमें मधुरता एवं कोमलता दोनों का समावेश होने लगा है, पर उसका खड़ापन अब भी कुछ न कुछ बना है। जब तक खड़ी क्रियापदों का लंबा रूप और नाम-धातुओं की उपेक्षा करती रहेगी, पद्य के साँचे में बैठने के लिए सिकुड़े-सिमटेगी नहीं, ब्रज-भाषा के कुछ प्रयोगों को लेगी नहीं, तब क उसका स्वरूप निखर नहीं सकता और ब्रज-भाषा में कविता होना भी बंद नहीं हो सकता, भले ही छापे की दुनियावाले उसे त्याज्य समझते रहें। ब्रज-भाषा में सब प्रकार के भावों के प्रकाशन की शक्ति है, अतः उसके विरोध में मनमानी बातें कहना अज्ञता का परिचय देना है, उस बोली जानेवाली भाषा को मृत कहना अपनी निर्जीवता का डंका पीटना है। इस अंश में शर्माजी ने अपनी चुलबुली भाषा में इन्हीं बातों का बड़े तर्कपूर्ण ढंग से प्रतिपादन किया है। ब्रज-भाषा के परित्याग का ही यह परिणाम है कि खड़ी बोली की अधिकतर रचनाएँ अपनी परंपरा से हटी दिखाई देती हैं। अतः सभी दृष्टियों से ब्रज-भाषा का पठन-पाठन और व्यवहार बना रहना आवश्यक है।

ब्रजभाषा का विरोध

खड़ी बोली के प्रचंड पक्षपाती या ब्रजभाषा के प्रबल विरोधी कुछ सज्जनों की यह धारणा है कि वीर भावों के प्रकाशन के लिए ब्रजभाषा उपयुक्त नहीं है, यह 'जनानी ज़बान' है, शृंगाररस की लीला के लिए ही गढ़ी गई है, इसमें केवल विरह-वेदना का रोना ही रोया जा सकता है, प्रेम-पचड़ों का राग ही अलापा जा सकता है, देशभक्ति और वीररस के 'कड़खे' इसमें नहीं समा सकते। यहीं तक नहीं, ब्रजभाषा के विरोध में कुछ वीरपुंगव इससे भी कुछ आगे बढ़े हैं। उनका कहना है कि देश की वर्तमान अधोगति के—क्लीवता-संचार के कारणों में ब्रजभाषा भी एक कारण हुई है, इसकी कविता के प्रचार ने हिंदुओं को नपुंसक बना दिया। इस धारणा के दो कारण बतलाए जाते हैं, एक तो ब्रजभाषा की स्वाभाविक मधुरता, दूसरा शृंगार रस के काव्यों की अधिकता। निस्संदेह ब्रजभाषा मधुर और कोमल-कांत-पदावली वाली भाषा है, पर संसार में और भी कई भाषा हैं जो मधुरता में ब्रजभाषा के समकक्ष समझी जाती हैं, फ़ारसी भाषा एक ऐसी ही भाषा है, माधुर्य के आधिक्य से इसका नाम ही 'कंदे-पारसी' पड़ गया है। शृंगार रस की कविता—इश्किया गजलों के लिए फ़ारसी बेतरह बदनाम है, पर उसी में महाकवि फ़िरदौसी का 'शाहनामा' भी है जो वीररस का एक उमड़ा हुआ दरिया (नद) है, मधुर भाषा के इस महाकाव्य—शाहनामे—पर महमूद गजनवी जैसा क्रूर वीर इतना मोहित था कि वीर भाव जागरित

रखने के लिए इसे सदा साथ रखता था, युद्धभूमि में भी सदा सिरहाने रखकर सोता था। युरोपियन भाषाओं में फ्रेंच भाषा सबसे मधुर कही जाती है, उसमें भी वीररस के काव्यों की कमी नहीं। जगद्विजयी वीर नैपोलियन की मातृ-भाषा यही मधुर भाषा थी, फ्रेंच-माधुरी का उपासक फ्रांस किसी भी कर्णकटु कठोर भाषाभाषी देश से वीरता में कम नहीं है।

कवि में कवित्व-शक्ति चाहिए; वह किसी भी भाषा में समान रूप से सफलतापूर्वक शृंगार और वीररस का वर्णन कर सकता है, भाषा उसके भावों को संकुचित नहीं कर सकती। जो लार्ड बायरन अश्लीलता की सीमा को उल्लंघन करनेवाले संयोग-शृंगार का नग्न चित्र खींचकर पाठक-पाठिकाओं के लाज के जहाज को शृंगाररस की खाड़ी में डुबो सकता है, वही बायरन उसी भाषा में उत्तेजना उत्पन्न करनेवाली वीररस की कविता द्वारा यूनान को तुर्कों के पराधीनता-पाश से मुक्ति भी दिला सकता है।

आर्यभाषाओं की जननी संस्कृत भाषा का साहित्य शृंगार-रस से भरा पड़ा है, शृंगाररस के इतने काव्य शायद ही संसार की किसी नई-पुरानी भाषा में हों, मधुरिमा भी इसकी अतुल-नीय है, पर रामायण और महाभारत के जोड़ के वीररस के काव्य किस कड़वी और कठोर भाषा में हैं? जिस भाषा में आदिकवि ने करुणरस की महानदी बहाई है, वीररस का उत्तुंग-तरंगशाली शोणभद्र भी उसी में हिलोरें ले रहा है। ज्ञान-गंगा के उद्गम भगवान् कृष्ण द्वैपायन का पंचमवेद (महाभारत) शांतरस का प्रशांत महासागर भी है और वीररस का प्रलय-पयोधि भी !!

भारत की आधुनिक भाषाओं में बंगभाषा कोमलता में कुछ कम नहीं है। इसके शृंगाररस के उपन्यासों की बाढ़ ने भाषांतर के रूप में खड़ी बोली को भी शराबोर कर रखा है, फिर भी उसमें वीररस के महाकाव्य 'मेघनाद-वध' की रचना हो सकती है। जो बात इन भाषाओं में संभव है वह व्रजभाषा ही में क्यों असंभव समझी जाती है? इसलिए व्रजभाषा-विरोधियों का उक्त तर्क कोरा हेत्वाभास ही है, अन्वय-व्यतिरेक द्वारा किसी प्रकार भी इसकी सत्यता प्रमाणित नहीं की जा सकती। व्रजभाषा में अधिकतर काव्य शृंगाररस के ही हैं, यह ठीक है; पर इसमें भाषा बेचारी का क्या अपराध है? यदि है तो उस समय की लोक-रुचि का है, जब जैसी लोक-रुचि होती है वैसे ही काव्य बनने लगते हैं, जिस जिन्स और माँग की खपत होती है वही बाजार में आती है; तथापि व्रजभाषा में वीररस का सर्वथा अभाव नहीं है, अनेक प्राचीन कवियों ने व्रजभाषा में वीररस की कविता की है इसके कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। यथा कुलपति मिश्र का द्रोणपर्व, रघुनाथ वंदीजन का ४ जिल्दों में पूरा महाभारत, लाल कवि का छत्रप्रकाश, श्रीधर और चंद्रशेखर वाजपेयी का हम्मीर-हठ, पद्माकर की हिम्मत बहादुर बिरदावली, श्रीधर का जंगनामा, भूषण का हजारा (जो दुर्भाग्य से अब अप्राप्य है) और भूषण-ग्रंथावली तथा स्वर्गीय नकछेदी तिवारी द्वारा संगृहीत वीरोल्लास इत्यादि वीररस के अनेक ग्रंथ-रत्न आज भी प्राप्य हैं, महाकवि गंग और सेनापति आदि के बचे-खुचे बहु-संख्यक फुटकर पद्य व्रजभाषा के विलुप्त वीर-साहित्य का पता आज अलग दे रहे हैं, पर इनके पढ़ने-वाले कितने हैं? शायद इन इने-गिने उपलब्ध ग्रंथों की संख्या

के बराबर भी नहीं। फिर आप ही इंसाफ से कहिए यह किसका अपराध है? भाषा का कि लोकरुचि का? जिनकी कविता का मुख्य विषय वीररस का वर्णन था उन्हें जाने दीजिए; महात्मा सूरदास ही को लीजिए, वह शृंगाररस के मुख्य भक्त कवि थे, शृंगार, करुण और वात्सल्य-रस में ही उनकी कविता डूबी हुई है, फिर भी वीररस का जहाँ कहीं प्रसंग आ गया है, चित्र-सा खींच दिया है, भीष्म-प्रतिज्ञा का यह पद देखिए, कितना जोरदार है—

"आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ,
तौ लाजौं गंगा-जननी को संतनु-सुत न कहाऊँ।
सर धनु तोरि महारथ खंडौं कपिधुज-सहित गिराऊँ,
पांडव-सैन समेत-सारथी सोनित-सरित वहाऊँ।
जीवौं तो जस लेहुँ जगत में जीत-निसान फिराऊँ,
मरौं तो मंडल भेदि भानु को सुरपुर जाय वसाऊँ।
इती न करौं सपथ मोहिं हरि की छत्रिय-गतिहि न पाऊँ,
'सूरदास' रन विजय-सखा को जियत न पीठ दिखाऊँ।"

आधुनिक कवियों में श्री भारतेंदु, पं० प्रतापनारायणजी मिश्र, पं० नाथूरामशंकर शर्मा 'शंकर' और स्वर्गीय सत्य-नारायणजी कविरत्न इत्यादि ने विशुद्ध व्रजभाषा में देशभक्ति पर बड़ी ओजस्विनी कविता की है। व्रजमाधुरी के परम पारखी श्री वियोगी हरिजी ने 'वीर-सतसई' रचकर अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि व्रजभाषा में आज भी वीररस की उत्तम कविता हो सकती है। कवि के हृदय में उत्साह भरा हो तो व्रजभाषा भी अपना पराक्रम दिखा सकती है और उत्साह-हीन हृदयों को खड़ी बोली भी उठाकर खड़ा

नहीं कर सकती; ऐसों को तो डिंगल का डंका भी नहीं जगा सकता।

सामयिक परिस्थिति और देश की दशा का प्रभाव कविता पर भी अनिवार्य रूप से पड़ता है, नायिका-भेद में लीन विरह-वेदना से मूर्छित शृंगारी कवि भी परिस्थिति से विवश होकर वीणा की मधुर झंकार में ऐसा मारू राग अलापने लगते हैं जो क्रांति का कारण बन जाता है, इतिहास इसका साक्षी है। समय पड़ने पर कुसुम-सुकुमारी कोकिल-कंठी कुल-ललनाओं ने अपनी मधुर पर ओजपूर्ण भर्त्सना से कायर पुरुषों को पुरुषसिंह बना दिया है, रण-भीरुओं को समरांगण में हँसते-हँसते प्राणाहुति देने पर उद्यत कर दिया है; जो काम प्रचंड रणवाद्य नहीं करा सका वह एक हृदयवेधी मधुरोपालंभ और मीठी चुटकी ने करा दिया है, मानव-हृदय के इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर प्राचीन आचार्यों ने काव्य-प्रयोजनों में 'कांता-सम्मिततयोपदेशयुजे' को स्थान दिया है—जिन मत्त हृदयों पर राजाज्ञा और गुरूपदेश का कठोर अंकुश असर नहीं करता वह भी कांता के कोमल-कांत परामर्श की अवहेलना नहीं कर सकते। जो कविता या संगीत श्रोता की हृत्तंत्री के तार को नहीं छू सकता—जिसमें हृदयंगमता नहीं है—वह चाहे जिस भाषा में हो, कवि की भावना कितनी ही उदात्त क्यों न हो, उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा, अरण्य-रोदन होकर रह जायगा। किसी भाषा से केवल इसलिए घृणा करना—उसे किसी काम की न समझना कि उसमें ऐसी कविता की अधिकता है जो मानव-चरित को उदात्त बनाने में बाधक है, या चरितभ्रंश का कारण हुई है, ठीक नहीं है। राग-विद्या की उपादेयता में औंधी खोपड़ी के कुछ पुराने खूसटों को छोड़कर किसी सहृदय

विवेकी का मतभेद नहीं है, इसी राग-विद्या या संगीत-कला को लीजिए, क्या इसने न जाने कितने शौकीन नवयुवकों को अपनी मादकता से अनय के गर्त में गिराकर नष्ट नहीं किया, विलासी अमीरों की नीच वासनाओं को उत्तेजना दे-देकर यह उनके सर्वनाश का कारण नहीं बनी, पर इससे क्या इस कला की उपादेयता में किसी सहृदय विवेकी का मतभेद हो सकता है ? संगीत-कला का दुरुपयोग ही निंद्य और त्याज्य है तथा उसका सदुपयोग अभिनंदनीय और वांछनीय है। जहाँ संगीत-कला के दुरुपयोग से अनेकों का अनिष्ट हुआ है, वहाँ इसी सदुपयोग से परमानंद-पयोधि के मीन अनिर्वचनीय आनंद में लीन होनेवाले आदर्श महात्माओं की संख्या भी कम नहीं है।

व्रज-भाषा के वैष्णव कवियों ने उस समय के नृशंस शासकों के असह्य अत्याचार से पीड़ित किंकर्तव्यविमूढ़ हिंदू-जाति के भग्न हृदय को अपने मधुर कीर्तन से भयहारी असुरारि भगवान् के चरणों में लगाकर जो उपकार किया है वह सहस्र मुख से प्रशंसनीय है। उस समय की परिस्थिति का ध्यान करने पर ही इसका औचित्य समझ में आ सकता है, जब कि खुले शब्दों में अपने धर्म की महत्ता का प्रतिपादन करना—उत्तेजना का एक शब्द भी मुँह से निकलना—मौत को निमंत्रण देना था, नृशंसता के उस साम्राज्य में जहाँ यह कहनेवाले की जबान काट दी जाती थी कि 'हिंदू के लिए हिंदूधर्म और मुसलमान के लिए इस्लाम दोनों सच्चे हैं'—रणभेरी बजाने का अवसर ही कहाँ था ! निराशा के उस अपार सागर से पार पाने का उपाय भगवद्भक्ति का प्रचार ही था, इसी ने जाति की डगमगाती नैया को बचाया था, व्रजभाषा में भक्ति-भावना-

भरी प्रेम-पूरित मधुर कविता प्राधान्य का यह भी प्रधान कारण है।

नायिकाभेद और कुरुचि-संचारक साहित्य को जाने दीजिए, जो उपादेय है उसी को ग्रहण कीजिए, अपने प्राचीन साहित्य का संहार नहीं, सुधार कीजिए। हिंदी भाषा का सिर आज भी अपने प्राचीन साहित्य के कारण ही ऊँचा है; तुलसी, सूर, केशव, विहारी, मतिराम, घनानंद और देव आदि प्राचीन कवियों को निकाल दीजिए और उसी शैली की आधुनिक कवियों—भारतेंदु आदि की—कविता को पृथक् कर दीजिए, फिर देखिए हिंदी के साहित्य में कोरे उपन्यासों के और भावहीन भद्दी तुकबंदी के अतिरिक्त और क्या रह जाता है। बँगला आदि प्रांतीय भाषाओं का वर्तमान साहित्य अन्य सब विषयों में राष्ट्रभाषा हिंदी के साहित्य से कहीं बढा चढ़ा है। हिंदी का गौरव प्राचीन साहित्य पर निर्भर है, तुलसी और सूर आदि प्राचीन कवि-विधाताओं की समानता करनेवाले कवि भारत की अन्य किस भाषा में हैं? अपने आदरणीय प्राचीन साहित्य की अवहेलना द्वारा हिंदी भाषा की इस विशेषता का विनाश न कीजिए। कोई भी प्राचीनता का पक्षपाती यह नहीं कहता कि नए ढंग के साहित्य का निर्माण न किया जाय, पर उसे विलुप्त होने से बचाया जाय। कविता खड़ी बोली में ही कीजिए पर ब्रज-माधुरी का स्वाद न भुलाइए, उसमें भी बहुत कुछ लेने लायक है, सदियों तक ब्रजभाषा कविता की भाषा रही है, आज भी अनेक सत्कवि उसी में कविता करते हैं, ब्रजभाषा मुरदा भाषा नहीं है, जैसा कि कुछ मनचले महाशय कह बैठते हैं, उसके बोलनेवाले अब भी लाखों

की संख्या में हैं। व्रजभाषा से वर्तमान खड़ी बोली का और उर्दू का घनिष्ठ संबंध है, इस बात को मौलाना आजाद आदि अनेक भाषा-विज्ञानी विद्वानों ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। उर्दू के पुराने कवि मीर, सौदा और ईंशा की कविता पढ़िए सबमें व्रजभाषा के ठेठ मुहावरे मिलेंगे, इन मुसलमान महाकवियों को व्रजभाषा के शब्दों से इतना ही प्रेम था जितना आजकल के कुछ हिंदी-कवियों को उनसे द्वेष है! यह अच्छे लक्षण नहीं हैं, संकीर्णता या अनुदारता साहित्य की और भाषा की विघातक है।

तेरहवीं सुरभि—

(श्री जयशंकर 'प्रसाद')

'प्रसाद' जी का यह एकांकी नाटक पूरा का पूरा आन्यापदेशिक रूपक (अलेगारिकल प्ले) है। इसमें वनलता, कुंज, मौलश्री, रसाल, आनंद आदि पात्रों के रूप दिखाई देते हैं। जड़ों ने चेतन का रूप धारण किया है, अमूर्त्त मूर्तिमान् होकर सामने आए हैं। पर विचार होता है चेतन जगत् का। आनंद और प्रेम की व्याख्या इसमें प्रधान है। संसार की मूल सत्ता आनंद पर स्थित है, दुःख पर नहीं। वहिरंग और अंतरंग में भेद है। दुःख की अंतःप्रवाहिनी धारा का अस्तित्व माननेवाले वहिरंग से अंतरंग की ओर उन्मुख होते हैं। यदि शाश्वत आनंद के स्रोत का अस्तित्व जानना चाहें तो अंतरंग से वहिरंग की ओर आना होगा। इसमें ब्रह्मविद्या (थियोसाफी) की ओर इंगित है।

एक घूँट

(अरुणाचल—आश्रम का एक सघन कुंज। श्रीफल, वट, आम,कदंब और मौलश्री के बड़े-बड़े वृक्षों की झुरमुट में प्रभात की धूप घुसने की चेष्टा कर रही है। उधर समीर के झोंके, पत्तियों और डालों को हिला-हिलाकर, जैसे किरणों के निर्विरोध प्रवेश में बाधा डाल रहे हैं। वसंत के फूलों की भीनी-भीनी सुगंध, उस हरी-भरी छाया में कलोल कर रही है। वृक्षों के अंत-राल से गुंजार-पूर्ण नभखंड की नीलिमा में जैसे पक्षियों का क़लरव साकार दिखाई देता है !

मौलश्री के नीचे वेदी पर वनलता बैठी हुई अपनी साड़ी के अंचल की बेल देख रही है। आश्रम में ही कहीं होते हुए संगीत को कभी सुन लेती है, कभी अनसुनी कर जाती है।

(नेपथ्य में गान)

खोल तू अब भी आँखें खोल !
जीवन-उदधि हिलोरें लेता उठती लहरें लोल।
छवि की किरणों से खिल जा तू,
अमृत-झड़ी सुख से झिल जा तू।
इस अनंत स्वर से मिल जा तू वाणी में मधु घोल।
जिससे जाना जाता सब यह,
उसे जानने का प्रयत्न, अह !
भूल अरे अपने को मत रह जकड़ा, बंधन खोल।
खोल तू अब भी आँखें खोल !

संगीत बंद होने पर कोकिल बोलने लगता है। वनलता

अंचल छोड़कर खड़ी हो जाती है। उसकी तीखी आँखें जैसे कोकिल को खोजने लगती हैं। उसे न देखकर हताश-सी वनलता अपने-ही-आप कहने लगती है—)

कितनी टीस है, कितनी कसक है, कितनी प्यास है! निरंतर पंचम की पुकार! कोकिल! तेरा गला जल उठता होगा! विश्वंभर से निचोड़कर यदि डाल सकती तेरे सूखे गले में एक घूँट! (कुछ सोचती है) किंतु इस संगीत का ......क्या अर्थ है......बंधनों को खोल देना एक विशृंखलता फैलाना, परंतु मेरे हृदय की पुकार क्या कह रही है! इस संगीत-स्नेह से यदि किसी रूखे मन को चिकनी कर सकती? (रसाल को आते हुए न देखना) मेरी विश्वयात्रा के संगी, मेरे स्वामी! तुम काल्पनिक विचारों के आनंद में अपनी सच्ची संगिनी को भूल.........(रसाल चुपचाप वनलता की आँखें बंद कर लेता है, वह फिर कहने लगती है) कौन है? लीला, शीला प्रेमलता! बोलती भी नहीं; अच्छा मैं भी खूब छकाऊँगी, तुम लोग बड़े दुलार पर चढ़ गई हो न!

रसाल—(निश्वास लेकर हाथ हटाते हुए) इन लोगों के अतिरिक्त और कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। इतने नाम लिए; किंतु............किंतु एक मेरा ही स्मरण न आया। क्यों वनलता?

वनलता—(सिर पर साड़ी खींचती हुई) आप थे? मैं नहीं जान........।

रसाल—(बात काटते हुए) जानोगी कैसे लता? मैं भी जानने की, स्मरण होने की वस्तु होऊँ तब न! अच्छा तो है, तुम्हारी विस्मृति भी मेरे लिए स्मरण करने की वस्तु होगी।

(निश्वास लेकर) अच्छा, चलती हो आज मेरा व्याख्यान सुनने के लिए ?

वनलता—(आश्चर्य से) व्याख्यान ! तुम कब से देने लगे ? तुम तो कवि हो कवि, भला तुम व्याख्यान देना क्या जानो और वह विषय कौन सा होगा जिस पर तुम व्याख्यान दोगे ? घड़ी दो घड़ी बोल सकोगे ? छोटी छोटी कल्पनाओं के उपासक ! सुकुमार सूक्तियों के संचालक ! तुम भला क्या व्याख्यान दोगे !

रसाल—तो मेरे इस भविष्य अपराध को तुम क्षमा न करोगी ? आनंदजी के स्वागत में मुझे कुछ बोलने के लिए आश्रमवालों ने तंग कर दिया है। क्या करूँ वनलता !

वनलता—(मौलश्री की एक डाल पकड़कर झुकाती हुई) आनंदजी का स्वागत ! अब होगा ! कहते क्या हो ! उन्हें आए तो कई दिन हो गए !

रसाल—(सिर पकड़कर) ओह, मैं भूल गया था। स्वागत नहीं उनके परिचय-स्वरूप कुछ बोलना पड़ेगा।

वनलता—हाँ, परिचय ? अच्छा, मुझे तो बताइए यह आनंदजी कौन हैं, क्यों आए हैं और कब ? नहीं-नहीं, कहाँ रहते हैं ?

रसाल—मनुष्य हैं, उनका कुछ निज का संदेश है, उसी का प्रचार करते हैं। कोई निश्चित निवास नहीं। (जैसे कुछ स्मरण करता हुआ) तुम भी चलो न ! संगीत भी होगा। आनंदजी अरुणाचल पहाड़ी की तलहटी में घूमने गए हैं, यदि नदी की ओर भी चले गए हों तो कुछ विलंब लगेगा, नहीं तो अब आते ही होंगे तो मैं चलता हूँ।

(रसाल जाने लगता है। वनलता चुप रहती है। फिर रसाल के कुछ दूर चले जाने पर उसे बुलाती है)।

वनलता—सुनो तो !

रसाल—(लौटते हुए) क्या ?

वनलता—यह अभी जो संगीत हो रहा था (कुछ सोचकर) मुझे उसका पद स्मरण नहीं हो रहा है। वह···

रसाल—मेरी 'एक घूँट' नाम की कविता मधुमालती गाती रही होगी।

वनलता—क्या नाम बतलाया—'एक घूँट' ? उहूँ ! कोई दूसरा नाम होगा। तुम भूल रहे हो; वैसा स्वर-विन्यास 'एक घूँट' नाम की कविता में हो ही नहीं सकता।

रसाल—तब ठीक है। कोई दूसरी कविता रही होगी, तो मैं जाऊँ ?

वनलता—(स्मरण करके) ओहो, उसमें 'मत रह जकड़ा' और भी क्या क्या ऐसी ही बातें थीं। वह किसकी कविता है ?

रसाल—(दूसरी ओर देखकर) तो, तो वह मेरी—हाँ-हाँ मेरी ही कविता थी।

वनलता—(त्योरी चढ़ाकर) अच्छा तो आप बंधन तोड़ने की चेष्टा में हैं आज-कल ! क्यों, कौन बंधन खल रहा है ?

रसाल—(हँसने की चेष्टा करता हुआ) यह अच्छी रही ! किंतु लता ! यह क्या पुराने ढंग की साड़ी तुमने पहन ली है ? यह तो समय के अनुकूल नहीं; और मैं तो कहूँगा, सुरुचि के भी यह प्रतिकूल है।

वनलता—समय के अनुकूल बनाने की मेरी बात नहीं,

और सुरुचि के संबंध में मेरा निज का विचार है। उसमें किसी दूसरे की संमति की मुझे आवश्यकता नहीं।

रसाल—उस दिन जो नई साड़ी मैं ले आया था उसे पहन आओ न!

वनलता—अच्छा अच्छा, तुम जाते कहाँ हो? व्याख्यान कहाँ होगा? ए कविजी, सुनूँ भी?

रसाल—यही तो मैं पूछने जा रहा था।

(वनलता दाहिने हाथ की तर्जनी से अपना अधर दबाए, बाँए हाथ से दाहिनी केहुनी पकड़े, हँसने लगती है और रसाल उसकी मुद्रा साग्रह देखने लगता है, फिर चला जाता है।)

वनलता—(दाँतों से ओठ चबाते हुए) हूँ! निरीह, भावुक प्राणी! जंगली पक्षियों के बोल, फूलों की हँसी और नदी के कलनाद का अर्थ समझ लेते हैं। परंतु मेरे अंतर्नाद को कभी समझने की चेष्टा भी नहीं करते और मैंने ही......... ।

(दूर से कुछ लोगों के बातचीत करते हुए आने का शब्द सुनाई पड़ता है। वनलता चुपचाप बैठ जाती है। प्रेमलता और आनंद का बात करते हुए प्रवेश। पीछे-पीछे और भी कई स्त्री-पुरुषों का आपस में संकेत से बातें करते हुए आना। वनलता जैसे उस ओर ध्यान ही नहीं देती।)

आनंद—(एक ढ़ीला रेशमी कुरता पहने हुए है, जिसकी बाँहें उसे बार-बार चढ़ानी पड़ती हैं बीच-बीच में चदरा सम्हाल लेता है। पान को रूमाल से पोछते हुए प्रेमलता की ओर गहरी दृष्टि से देखकर) जैसे उजली धूप सबको जलाती हुई आलोक फैला देती है, जैसे उल्लास की मुक्त प्रेरणा फूलों की पंखड़ियों को गद्गद कर देती है, जैसे सुरभि का शीतल झोंका सबका

आलिंगन करने के लिए विह्वल रहता है, वैसे ही जीवन की निरंतर परिस्थिति होनी चाहिए।

प्रेमलता—किंतु, जीवन की झंझटें, आकांक्षाएँ, ऐसा अवसर आने दें तब न! बीच-बीच में ऐसा अवसर आ जाने पर भी वे चिरपरिचित निष्ठुर विचार गुर्राने लगते हैं तब!

आनंद—उन्हें पुचकार दो, सहला दो; तब भी न मानें, तो किसी एक का पक्ष न लो। बहुत संभव है कि वे आपस में लड़ जाएँ और तब तुम तटस्थ दर्शक मात्र बन जाओ और खिलखिलाकर हँसते हुए वह दृश्य देख सको। देख सकोगी न?

प्रेमलता—असंभव! विचारों का आक्रमण तो सीधे मुझी पर होता है। फिर वे परस्पर कैसे लड़ने लगे? (स्वगत) अहा, कितना मधुर यह प्रभात है! यह मेरा मन जो गुदगुदी का अनुभव कर रहा है, उसका संघर्ष किससे करा दूँ।

(मुकुल भवों को चढ़ाकर अपनी एक हथेली पर तर्जनी से प्रहार करता है, जैसे उसकी समझ में प्रेमलता की बात बहुत सोच-विचारकर कही गई हो। आनंद दोनों को देखता है। फिर उसकी दृष्टि वनलता की ओर चली जाती है।)

आनंद—(सँभालते हुए) जब तुम्हारे हृदय में एक कटु विचार आता है, उसके पहले से क्या कोई मधुर भाव प्रस्तुत नहीं रहता, जिससे तुलना करके तुम कटुता का भक्षव करती हो?

प्रेमलता—हाँ, ऐसा ही तो समझ में आता है।

आनंद—तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि पवित्र हृदय-

मंदिर में दो—कटु और मधुर—भावों का द्वंद्व चला करता है, और उन्हीं में से एक दूसरे पर आतंक जमा लेता है।

प्रेमलता—लेता है; किंतु यह बात मेरी समझ में······।

आनंद—(हँसकर) न आई होगी। किंतु तुम उस द्वंद्व के प्रभाव से मुक्त हो सकती हो। मान लो कि तुम किसी से स्नेह करती हो (ठहरकर प्रेमलता की ओर गूढ़ दृष्टि से देखकर) और तुम्हारे हृदय में इसे सूचित करने········व्यक्त करने के लिए इतनी व्याकुलता·········

प्रेमलता—ठहरिए तो, मैं प्यार करती हूँ कि नहीं, पहले इस पर भी मुझे दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए।

आनंद—(विरक्ति प्रगट करता हुआ) उहँ, दृढ़ निश्चय को बीच में लाकर तुमने मेरी विचार-धारा दूसरी ओर वहा दी। दृढ़ निश्चय एक बंधन है। प्रेम की स्वतंत्र आत्मा को बंदीगृह में न डालो। इससे उसका स्वास्थ्य, सौंदर्य और सरलता सब नष्ट हो जायगी।

प्रेमलता—एं! (और भी कई व्यक्ति आश्चर्य से 'एं!')

आनंद—हाँ-हाँ, उस नियमबद्ध प्रेम-व्यापार का बड़ा ही स्वार्थपूर्ण विकृत रूप होगा। जीवन का लक्ष्य भ्रष्ट हो जायगा।

प्रेमलता—(आश्चर्य से) और वह लक्ष्य क्या है?

[आनंद—विश्व-चेतना के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम 'जीवन' है। जीवन का लक्ष्य 'सौंदर्य' है; क्योंकि आनंदमयी प्रेरणा जो उस चेष्टा या प्रयत्न का मूल रहस्य है, स्वस्थ—अपने आत्मभाव में, निर्विशेष रूप से—रहने पर सफल हो सकती है। दृढ़ निश्चय कर लेने पर उसकी सरलता न रहेगी, अपने मोह-मूलक अधिकार के लिए वह झगड़ेगी।]

प्रेमलता—किंतु अभी-अभी आपने नदी-तट पर जाल की कड़ियों को आपस में लड़ाते हुए मछुओं की बातें सुनी हैं। वे न जानें..........

आनंद—सुनी हैं। आनंद के संबंध में पहले एक बात मेरी सुन लो। आनंद का अंतरंग सरलता है और बहिरंग सौंदर्य है, इसी में वह स्वस्थ रहता है।

प्रेमलता—किंतु आपकी ये बातें समझ में नहीं आतीं।

आनंद—(हँसकर) तो इसमें मेरा अपराध नहीं। प्रायः न समझने के कारण मेरे इस कथन का अर्थ उलटा ही लगाया जायगा, या तो पागल का प्रलाप समझा जायगा। किंतु करूँ क्या, बात तो जैसी है वैसी ही कही जायगी न। उन मछुओं को सरलता और सौंदर्य दोनों का ज्ञान नहीं। फिर आनंद के नाम पर वे दुख का नाम क्यों न लें?

प्रेमलता—(उदास होकर) यदि हम लोगों की दृष्टि में उनके यहाँ सौंदर्य का अभाव हो, तो भी उनके पास सरलता नहीं है, मैं ऐसा नहीं मान सकती।

आनंद—तुम्हारा न मानने का अधिकार मैं मानता हूँ; किंतु वे अपने भीतर ज्ञाता बनने का निश्चय करके, अपने कुछ स्वार्थों के लिए दृढ़ अधिकार प्रकट करते हुए, अपनी सरलता की हत्या कर रहे थे और सौंदर्य को मलिन बना रहे थे। काल्पनिक दुःखों को तो समाज कह..........

मुकुल—(बात काटते हुए) ठहरिए तो, क्या फिर 'दुःख' नाम की कोई वस्तु हुई नहीं?

आनंद—होगी कहीं! हम लोग उसे खोज निकालने का प्रयत्न क्यों करें? अपने काल्पनिक अभाव, शोक, ग्लानि

और दुःख के काजल को आँखों के आँसू में घोलकर सृष्टि के सुंदर कपोलों को क्यों कलुषित करें ? मैं उन दार्शनिकों से मतभेद रखता हूँ जो यह कहते आए हैं कि संसार दुःखमय है और दुःख के नाश का उपाय सोचना ही पुरुषार्थ है।

(वनलता चुपचाप तीव्र दृष्टि से दोनों को देखती हुई अपने बाल सँवारने लगती है और प्रेमलता आनंद को देखती हुई अपने आप सोचने लगती है।)

प्रेमलता—(स्वगत) अहा ! कितना सुंदर जीवन हो, यदि मनुष्य को इस बात का विश्वास हो जाय कि मानव-जीवन की मूल सत्ता में आनंद है ! आनंद ! आह ! इनकी बातों में कितनी प्रफुल्लता है ! हृदय को जैसे अपनी भूली हुई गति स्मरण हो रही है। (वह प्रसन्न नेत्रों से आनंद को देखती हुई कह उठती है) और !

आनंद—और दुःख की उपासना करते हुए एक - दूसरे के दुःख से दुखी होकर परंपरागत सहानुभूति—नहीं नहीं, यह शब्द उपयुक्त नहीं; हाँ—सहरोदन करना मूर्खता है । प्रसन्नता की हत्या का रक्त पानी बन जाता है। पतला, शीतल ! ऐसी समवेदनाएँ संसार में उपकार से अधिक अपकार ही करती हैं।

प्रेमलता—(स्वगत सोचने लगती है) सहानुभूति भी अपराध है ? अरे यह कितना निर्दय है ! आनंद ! आनंद ! यह तुम क्या कह रहे हो ? इस स्वच्छंद प्रेम से या तुमसे क्या आशा !

मुकुल—फिर संसार में इतना हाहाकार !

आनंद—उहँ, विश्व विकासपूर्ण है; है न ? तब विश्व की

कामना का मूल रहस्य 'आनंद' ही है, अन्यथा वह 'विकास' न होकर दूसरा ही कुछ होता।

मुकुल—और संसार में जो एक दूसरे को कष्ट पहुँचाते हैं, झगड़ते हैं ?

आनंद—दुःख के उपासक उसकी प्रतिमा बनाकर पूजा करने के लिए द्वेष, कलह और उत्पीड़न आदि सामग्री जुटाते रहते हैं। तुम्हें हँसी के हलके धक्के से उन्हें टाल देना चाहिए।

मुकुल—महोदय, आपका यह हलके जोगिया रंग का कुर्ता जैसे आपके सुंदर शरीर से अभिन्न होकर हम लोगों की आँखों में भ्रम उत्पन्न कर देता है, वैसे ही आपको दुःख के झलमले अंचल में सिसकते हुए संसार की पीड़ा का अनुभव स्पष्ट नहीं हो पाता। आपको क्या मालूम कि बुद्धू के घर की काली कलूटी हाँड़ी भी कई दिन से उपवास कर रही है। घुन्नू मूँगफलीवाले का एक रुपये की पूँजी का खोमचा लड़कों ने उछल-कूदकर गिरा भी दिया और लूटकर खा भी गए; उसके घर पर सात दिन की उपवासी रुग्ण बालिका मुनक्के की आशा में पलक पसारे बैठी होगी या खाट पर पड़ी होगी।

प्रेमलता—(आनंद की ओर देखकर) क्यों ?

आनंद—ठीक वही बात, यही तो होना चाहिए। स्वच्छंद प्रेम को जकड़कर बाँध रखने का, प्रेम की परिधि संकुचित बनाने का यही फल है, यही परिणाम है। (मुसकराने लगता है)।

मुकुल—तब क्या सामाजिकता का मूल उद्गम—वैवाहिक प्रथा तोड़ देनी चाहिए ? यह तो साफ-साफ दायित्व

छोड़कर उद्भ्रांत जीवन बिताने की घोषणा होगी। परस्पर सुख-दुःख में गला बाँधकर एक दूसरे पर विश्वास करते हुए, संतुष्ट दो प्राणियों की आशाजनक परिस्थिति क्या छोड़ देने की वस्तु है ? फिर........

प्रेमलता—(स्वगत) यह कितनी निराशामयी शून्य कल्पना है ! (आनंद को देखने लगती है।)

आनंद—(हताश होने की मुद्रा बनाकर) ओह ! मनुष्य कभी न समझेगा। (अपने दुःखों से भयभीत कंगाल दूसरों के दुःख में श्रद्धावान् बन जाता है।)

मुकुल—मैंने देखा है कि मनुष्य एक ओर तो दूसरे से ठगा जाता है, फिर भी दूसरे से कुछ ठग लेने के लिए सावधान और कुशल बनने का अभिनय करता रहता है।

प्रेमलता—ऐसा भी होता होगा।

आनंद—यह मोह की भूख........

वनलता—(पास आकर) और केवल पेट की ही भूख-प्यास तो मानव-जीवन में नहीं होती। हृदय को—(छाती पर हाथ रखकर) कभी इसको—भी टटोलकर देखा है। इसकी भूख-प्यास का भी कभी अनुभव किया है ?

(आनंद कौतुक से वनलता की ओर देखने लगता है। आश्रम के मंत्री कुंज के साथ रसाल का प्रवेश)।

आनंद—(मुसकराकर) देवि, तुम्हारा तो विवाहित जीवन है न ? तब भी हृदय भूखा-प्यासा ? इसी से मैं स्वच्छंद प्रेम का पक्षपाती हूँ।

वनलता—वही तो मैं समझ नहीं पाती, प्रतिकूलताएँ... (कहते कहते रसाल को देखकर रुक जाती है, फिर प्रेमलता को देखकर) प्रेमलता ! तुमने आज प्रश्न करके हम लोगों के अतिथि

श्री आनंदजी को अधिक समय तक थका दिया है। अच्छा होता कि कोई गाना सुनाकर इन शुष्क तर्कों से उत्पन्न हुई हम लोगों की ग्लानि को दूर करतीं।

प्रेमलता—(सिर झुकाकर प्रसन्न होती हुई) अच्छा सुनिए।

(सब प्रसन्नता प्रगट करते हुए एक दूसरे को देखते हैं, प्रेमलता गाती है)।

जीवन-वन में उजियाली है!
यह किरनों की कोमल धारा—
बहती ले अनुराग तुम्हारा,
फिर भी प्यासा हृदय हमारा।
व्यथा घूमती मतवाली है।
हरित-दलों के अंतराल से—
बचता-सा इस सघन जाल से।
यह समीर किस कुसुम-बाल से—
माँग रहा मधु की प्याली है।
एक घूँट का प्यासा जीवन—
निरख रहा सबको भर-लोचन।
कौन छिपाए है उसका धन—
कहाँ सजल वह हरियाली है।

(गान समाप्त होने पर एक प्रकार का सन्नाटा हो जाता है। संगीत की प्रतिध्वनि उस कुंज में अभी भी जैसे सब लोगों को मुग्ध किए है)।

चौदहवीं सुरभि—

(श्री प्रेमचंद)

लेखक की यह एक अद्भुत आख्यायिका है। कहानियों में यों तो कई तत्त्व माने जाते हैं, पर छोटी कहानियों में चरित-चित्रण का वैसा अवसर नहीं मिलता जैसा उपन्यासों के लंबे-चौड़े क्षेत्र में मिला करता है। इस पूरी की पूरी कहानी में चरित-चित्रण के सिवा और कुछ है ही नहीं ; न घटना-वैचित्र्य है और न संवाद का प्रकृत लघुरूप। केवल रूपक-विधि (ड्रामेटिक मेथड) से 'बड़े भाई साहब' का शील-निरूपण कर दिया गया है। ऐसी कहानियाँ, जिनमें चरित-चित्रण का ऐसा अवसर निकाल लिया गया हो और जिनमें केवल यही हो, अन्य समृद्ध साहित्यों में भी देखने में नहीं आतीं। बड़े होने के नाते छोटों पर डाँट-डपट रखने के लिए कैसे कैसे रास्ते निकाले जा सकते हैं, यही इस कहानी में दिखाया गया है। बहुत ही प्रकृत चित्र है, बहुत ही स्पष्ट रूपरेखाएँ हैं और बहुत ही प्रवाहपूर्ण व्यावहारिक भाषा है।

बड़े भाई साहब

(१)

मेरे भाई साहब मुझसे पाँच साल बड़े थे; लेकिन केवल तीन दरजे आगे। उन्होंने भी उसी उम्र में पढ़ना शुरू किया था, जब मैंने शुरू किया; लेकिन तालीम जैसे महत्त्व के मामले में वह जल्दबाजी से काम लेना पसंद न करते थे, इस भवन की बुनियाद खूब मजबूत डालनी चाहते थे, जिस पर आलीशान महल बन सके। एक साल का काम दो साल में करते थे। कभी-कभी तीन साल भी लग जाते थे। बुनियाद ही पुख्ता न हो, तो मकान कैसे पायेदार बने।

मैं छोटा था, वह बड़े थे। मेरी उम्र नौ साल की, वह चौदह साल के थे। उन्हें मेरी तंबीह और निगरानी का पूरा और जन्मसिद्ध अधिकार था। और मेरी शालीनता इसी में थी कि उनके हुक्म को कानून समझूँ।

वह स्वभाव के बड़े अध्ययनशील थे। हरदम किताब खोले बैठे रहते। और शायद दिमाग को आराम देने के लिए कभी कापी पर, कभी किताब के हाशियों पर, चिड़ियों, कुत्तों, बिल्लियों की तस्वीरें बनाया करते थे। कभी-कभी एक ही नाम या शब्द या वाक्य दस-बीस बार लिख डालते, कभी एक शेर को बार-बार सुंदर अक्षरों में नकल करते। कभी ऐसी शब्द-रचना करते जिसमें न कोई अर्थ होता, न कोई सामंजस्य। मसलन एक बार उनकी कापी पर मैंने इबारत देखी—'स्पेशल, अमीना, भाइयो-भाइयों, दर असल, भाई

भाई, राधेश्याम, श्रीयुत राधेश्याम, एक घंटे तक'—इसके बाद एक आदमी का चेहरा बना हुआ था। मैंने बहुत चेष्टा की कि इस पहेली का कोई अर्थ निकालूँ; लेकिन असफल रहा। और उनसे पूछने का साहस न हुआ। वह नवीं जमाअत में थे, मैं पाँचवीं में। उनकी रचनाओं को समझना मेरे लिए छोटा मुँह बड़ी बात थी।

मेरा जी पढ़ने में बिलकुल न लगता था। एक घंटा भी किताब लेकर बैठना पहाड़ था। मौका पाते ही होस्टल से निकलकर मैदान में आ जाता, और कभी कंकरियाँ उछालता, कभी कागज की तितलियाँ उड़ाता, और कहीं कोई साथी मिल गया, तो पूछना ही क्या। कभी चारदीवारी पर चढ़कर नीचे कूद रहे हैं, कभी फाटक पर सवार उसे आगे पीछे चलाते हुए मोटर का आनंद उठा रहे हैं; लेकिन कमरे में आते ही भाई साहब का वह रुद्र-रूप देखकर प्राण सूख जाते। उनका पहला सवाल होता—कहाँ थे? हमेशा यही सवाल, इसी ध्वनि में हमेशा पूछा जाता था और इसका जवाब मेरे पास केवल मौन था। न-जाने मेरे मुँह से यह बात क्यों न निकलती कि जरा बाहर खेल रहा था। मेरा मौन कह देता था कि मुझे अपना अपराध स्वीकार है और भाई साहब के लिए इसके सिवा और कोई इलाज न था कि स्नेह और रोष से मिले हुए शब्दों में मेरा सत्कार करें।

"इस तरह अँगरेजी पढ़ोगे, तो जिन्दगी भर पढ़ते रहोगे, और एक हर्फ न आएगा। अँगरेजी पढ़ना कोई हँसी-खेल नहीं है कि जो चाहे पढ़ ले, नहीं ऐरा-गैरा नत्थू-खैरा सभी अँगरेजी के विद्वान् हो जाते। यहाँ रात-दिन आँखें फोड़नी पड़ती हैं, और खून जलाना पड़ता है, तब कहीं यह विद्या

आती है, और आती क्या है, हाँ कहने को आ जाती है। बड़े-बड़े विद्वान् भी शुद्ध अँगरेजी नहीं लिख सकते, बोलना तो दूर रहा, और मैं कहता हूँ कि तुम कितने घोंघा हो कि मुझे देख कर भी सबक नहीं लेते, मैं कितनी मिहनत करता हूँ यह तुम अपनी आँखों देखते हो; अगर नहीं देखते, तो यह तुम्हारी आँखों का कसूर है, तुम्हारी बुद्धि का कसूर है। इतने मेले-तमाशे होते हैं; मुझे तुमने कभी देखने जाते देखा है? रोज ही क्रिकेट और हाकी-मैच होते हैं, मैं पास नहीं फटकता। हमेशा पढ़ता रहता हूँ। उस पर भी एक-एक दरजे में दो-दो तीन-तीन साल पड़ा रहता हूँ; फिर तुम कैसे आशा करते हो कि तुम यों खेल-कूद में वक्त गँवाकर पास हो जाओगे। मुझे दो ही तीन साल लगते हैं, तुम उम्र भर इसी दरजे में पड़े सड़ते रहोगे। अगर तुम्हें इस तरह उम्र गँवानी है, तो बेहतर है घर चले जाओ और मजे से गुल्ली-डंडा खेलो, दादा की गाढ़ी कमाई के रुपये क्यों बरबाद करते हो?"

मैं यह लताड़ सुनकर आँसू बहाने लगता। जवाब ही क्या था। अपराध तो मैंने किया, लताड़ कौन सहे। भाई साहब उपदेश की कला में निपुण थे। ऐसी-ऐसी लगती बातें कहते, ऐसे-ऐसे सूक्ति-बाण चलाते, कि मेरे जिगर के टुकड़े-टुकड़े हो जाते और हिम्मत टूट जाती। इस तरह जान तोड़-कर मेहनत करने की शक्ति मैं अपने में न पाता था और उस निराशा में जरा देर के लिए मैं सोचने लगता—क्यों न घर चला जाऊँ। जो काम मेरे बूते के बाहर है, उसमें हाथ डाल-कर क्यों अपनी जिंदगी खराब करूँ। मुझे अपना मूर्ख रहना मंजूर था; लेकिन उतनी मेहनत—मुझे तो चक्कर आ जाता था; लेकिन घंटे-दो-घंटे के बाद निराशा के बादल फट जाते और

मैं इरादा करता कि आगे से खूब जी लगाकर पढ़ूँगा। चटपट एक टाइम-टेबिल बना डालता। बिना पहले से नकशा बनाए, कोई स्कीम तैयार किए काम कैसे शुरू करूँ। टाइम-टेबिल में खेल-कूद की मद बिलकुल उड़ जाती। प्रातःकाल उठना, छः बजे मुँह-हाथ धो, नाश्ता कर पढ़ने बैठ जाना। छः से आठ तक अँगरेजी, आठ से नौ तक हिसाब, नौ से साढ़े नौ तक इतिहास, फिर भोजन और स्कूल। साढ़े तीन बजे स्कूल से वापस होकर आध घंटा आराम, चार से पाँच तक भूगोल, पाँच से छः ग्रामर, आध घंटा होस्टल के सामने ही टहलना, साढ़े छः से सात तक अँगरेजी कंपोजीशन, फिर भोजन करके आठ से नौ तक अनुवाद, नौ से दस तक हिंदी, दस से ग्यारह तक विविध विषय, फिर विश्राम।

मगर टाइम-टेबिल बना लेना एक बात है, उस पर अमल करना दूसरी बात। पहले ही दिन से उसकी अवहेलना शुरू हो जाती। मैदान की वह सुखद हरियाली, हवा के वह हलके-हलके झोंके, फुटबाल की वह उछल कूद, कबड्डी के वह दाँव-घात, वाली-बाल की वह तेजी और फुरती मुझे अज्ञात और अनिवार्य रूप से खींच ले जाती और वहाँ जाते ही मैं सब कुछ भूल जाता। वह जान-लेवा टाइम टेबिल, वह आँख-फोड़ पुस्तकें, किसी की याद न रहती; और फिर भाई साहब को नसीहत और फजीहत का अवसर मिल जाता। मैं उनके साए से भागता, उनकी आँखों से दूर रहने की चेष्टा करता, कमरे में इस तरह दबे पाँव आता कि उन्हें खबर न हो, उनकी नजर मेरी ओर उठी और मेरे प्राण निकले। हमेशा एक नंगी तलवार-सी लटकती मालूम होती। फिर भी जैसे मौत और विपत्ति के बीच में भी आदमी मोह और माया

के बंधन में जकड़ा रहता है, मैं फटकार और घुड़कियाँ खाकर भी खेल कूद का तिरस्कार न कर सकता।

(२)

सालाना इम्तहान हुआ। भाई साहब फेल हो गए, मैं पास हो गया और दरजे में प्रथम आया। मेरे और उनके बीच में केवल दो साल का अंतर रह गया। जी में आया भाई साहब को आड़े हाथों लूँ—आपकी वह घोर तपस्या कहाँ गई। मुझे देखिए, मजे से खेलता भी रहा और दरजे में औवल भी हूँ; लेकिन वह इतने दुखी और उदास थे कि मुझे उनसे दिली हमदर्दी हुई और उनके घाव पर नमक छिड़कने का विचार ही लज्जास्पद जान पड़ा। हाँ, अब मुझे अपने ऊपर कुछ अभिमान हुआ और आत्मसंमान भी बढ़ा। भाई साहब का वह रोब मुझ पर न रहा। आजादी से खेल-कूद में शरीक होने लगा, दिल मजबूत था। अगर उन्होंने फिर मेरी फजीहत की, तो साफ कह दूँगा—आपने अपना खून जलाकर कौन-सा तीर मार लिया। मैं तो खेलते-कूदते दरजे में औवल आ गया। जबान से यह हेकड़ी जताने का साहस न होने पर भी मेरे रंग-ढंग से साफ जाहिर होता था कि भाई साहब का वह आतंक मुझ पर नहीं है। भाई साहब ने इसे भाँप लिया—उनकी सहज बुद्धि बड़ी तीव्र थी और एक दिन जब मैं भोर का सारा समय गुल्ली-डंडे की भेंट करके ठीक भोजन के समय लौटा, तो भाई साहब ने मानों तलवार खींच ली और मुझ पर टूट पड़े—'देखता हूँ, इस साल पास हो गए, और दरजे में औवल आ गए, तो तुम्हें दिमाग हो गया है; मगर भाई जान, घमंड तो बड़े-बड़ों का नहीं रहा, तुम्हारी क्या हस्ती है। इतिहास में रावण का हाल तो पढ़ा ही

होगा। उसके चरित्र से तुमने कौन-सा उपदेश लिया ? या यों हीं पढ़ गए ? महज इम्तहान पास कर लेना कोई बड़ी चीज नहीं, असल चीज है बुद्धि का विकास। जो कुछ पढ़ो, उसका अभिप्राय समझो। रावण भू-मंडल का स्वामी था। ऐसे राजों को चक्रवर्ती कहते हैं। आजकल अँगरेजों के राजा का विस्तार बहुत बढ़ा हुआ है; पर इन्हें चक्रवर्ती नहीं कह सकते। संसार में अनेकों राष्ट्र अँगरेजों का आधिपत्य स्वीकार नहीं करते। बिलकुल स्वाधीन हैं। रावण चक्रवर्ती राजा था, संसार के सभी महीप उसे कर देते थे। बड़े-बड़े देवता उसकी गुलामी करते थे। आग और पानी के देवता भी उसके दास थे; मगर उसका अंत क्या हुआ ? घमंड ने उसका नाम-निशान तक मिटा दिया, उसे एक चुल्लू पानी देनेवाला भी न बचा। आदमी और जो चाहे कुकर्म करे; पर अभिमान न करे, इतराए नहीं, अभिमान किया और दीन-दुनिया दोनों से गया। शैतान का हाल भी पढ़ा ही होगा। उसे यह अभिमान हुआ था कि ईश्वर का उससे बढ़कर सच्चा भक्त कोई है ही नहीं। अंत यह हुआ कि स्वर्ग से नरक में ढकेल दिया गया। शाहेरूम ने भी एक बार अहंकार किया था। भीख माँग-माँगकर मर गया। तुमने तो अभी केवल एक दरजा पास किया है, और अभी से तुम्हारा सिर फिर गया, तब तो तुम आगे बढ़ चुके। यह समझ लो कि तुम अपनी मेहनत से नहीं पास हुए, अंधे के हाथ बटेर लग गई। मगर बटेर केवल एक बार लग सकती है, बार बार नहीं लग सकती। कभी गुल्ली-डंडे में भी अंधाचोट निशाना पड़ जाता है। इससे कोई सफल खिलाड़ी नहीं हो सकता। सफल खिलाड़ी वह है, जिसका कोई निशाना खाली न जाय। मेरे

फेल होने पर मत जाओ। मेरे दरजे में आओगे, तो दाँतों पसीना आ जायगा, जब अलजबरा और जामेट्री के लोहे के चने चवाने पड़ेंगे, और इंगलिस्तान का इतिहास पढ़ना पड़ेगा। बादशाहों के नाम याद रखना आसान नहीं। आठ आठ हेनरी हो गुजरे हैं। कौन-सा कांड किस हेनरी के समय में हुआ, क्या यह याद कर लेना आसान समझते हो? हेनरी सातवें की जगह, हेनरी आठवाँ लिखा और सब नंबर गायब! सफा चट! सिफर भी न मिलेगा, सिफर भी! हो किस खयाल में। दरजनों तो जेम्स हुए हैं, दरजनों विलियम, कोड़ियों चार्ल्सस। दिमाग चक्कर खाने लगता है। आँधी रोग हो जाता है। इन अभागों को नाम भी न जुड़ते थे। एक ही नाम के पीछे दोयम, सेयम, चहारम, पंचम लगाते चले गए। मुझसे पूछते, तो दस लाख नाम बता देता। और जामेट्री तो बस खुदा की पनाह! अ ज ब की जगह अ ब ज लिख दिया और सारे नंबर कट गए। कोई इन निर्दयी मुमतहिनों से नहीं पूछता कि आखिर अ ज ब और अ ब ज में क्या फर्क है, और व्यर्थ की बात के लिए क्यों छात्रों का खून करते हो। दाल-भात-रोटी खाई या भात-दाल-रोटी खाई, इसमें क्या रक्खा है; मगर इन परीक्षकों को क्या परवाह। वह तो वही देखते हैं जो पुस्तक में लिखा है। चाहते हैं कि लड़के अक्षर-अक्षर रट डालें। और इसी रटंत का नाम शिक्षा रख छोड़ा है। और आखिर इन बे-सिर-पैर की बातों के पढ़ाने से फ़ायदा? इस रेखा पर वह लंब गिरा दो, तो आधार लंब से दुगुना होगा। पूछिए इससे प्रयोजन? दुगुना नहीं चौगुना हो जाय, या आधा ही रहे, मेरी बला से; लेकिन परीक्षा में पास होना है, तो यह सब खुराफात याद रखनी

पड़ेगी। कह दिया—समय की पाबंदी पर एक निबन्ध लिखो, जो चार पन्ने से कम न हो। अब आप कापी सामने खोले, कलम हाथ में लिए उसके नाम को रोइए। कौन नहीं जानता कि समय की पाबंदी बहुत अच्छी बात है, इससे आदमी के जीवन में संयम आ जाता है, दूसरों का उस पर स्नेह होने लगता है और उसके कारोबार में उन्नति होती है; लेकिन इस जरा-सी बात पर चार पन्ने कैसे लिखें। जो बात एक वाक्य में कही जा सके, उसे चार पन्नों में लिखने की जरूरत? मैं तो इसे हिमाकत कहता हूँ। यह तो समय की किफायत नहीं, बल्कि उसका दुरुपयोग है कि व्यर्थ में किसी बात को ठूँस दिया जाय। हम चाहते हैं, आदमी को जो कुछ कहना हो चट-पट कह दे और अपनी राह ले। मगर नहीं आपको चार पन्ने रँगने पड़ेंगे, चाहे जैसे लिखिए। और पन्ने भी पूरे फुलसकेप के आकार के; यह छात्रों पर अत्याचार नहीं तो और क्या है। अनर्थ तो यह है कि कहा जाता है संक्षेप में लिखो। समय की पाबंदी पर संक्षेप में एक निबंध लिखो, जो चार पन्नों से कम न हो। ठीक! संक्षेप में तो चार पन्ने हुए, नहीं शायद सौ-दो-सौ पन्ने लिखवाते। तेज भी दौड़िए और धीरे-धीरे भी। है उल्टी बात या नहीं; बालक भी इतनी-सी बात समझ सकता है, लेकिन इन अध्यापकों को इतनी तमीज भी नहीं, उसपर दावा है कि हम अध्यापक हैं। मेरे दरजे में आओगे लाला, तो ये सारे पापड़ बेलने पड़ेंगे और तब आटे-दाल का भाव मालूम होगा। इस दरजे में अौवल आ गए हो, तो जमीन पर पाँव नहीं रखते; इसलिए मेरा कहना मानिए। लाख फेल हो गया हूँ; लेकिन तुमसे बड़ा हूँ, संसार का मुझे तुमसे कहीं ज्यादा अनुभव

है। जो कुछ कहता हूँ, उसे गिरह बाँधिए, नहीं पछताइएगा।'

स्कूल का समय निकट था, नहीं ईश्वर जाने कब यह उपदेश-माला समाप्त होती। भोजन आज मुझे निःस्वाद सा लग रहा था, जब पास होने पर यह तिरस्कार हो रहा है, तो फेल हो जाने पर तो शायद प्राण ही ले लिए जायँ। भाई साहब ने जो अपनी पढ़ाई का भयंकर चित्र खींचा था, उसने मुझे भयभीत कर दिया। कैसे स्कूल छोड़कर घर नहीं भागा यही ताज्जुब है; लेकिन इतने तिरस्कार पर भी पुस्तकों से मेरी अरुचि ज्यों-की-त्यों बनी रही। खेल-कूद का कोई अवसर हाथ से न जाने देता। पढ़ता भी था; मगर बहुत कम, बस इतना कि रोज का टास्क पूरा हो जाय और दरजे में जलील न होना पड़े। अपने ऊपर जो विश्वास पैदा हुआ था, वह फिर लुप्त हो गया और फिर चोरों का-सा जीवन कटने लगा।

(३)

फिर सालाना इम्तहान हुआ, और कुछ ऐसा संयोग हुआ कि मैं फिर पास हुआ और भाई साहब फिर फेल हो गए। मैंने बहुत मेहनत नहीं की; पर न जाने कैसे दरजे में अौवल आ गया। मुझे खुद अचरज हुआ। भाई साहब ने प्राणांतक परिश्रम किया था। कोर्स का एक-एक शब्द चाट गए थे। दस बजे रात तक इधर, चार बजे भोर से उधर, छः से साढ़े नौ तक स्कूल जाने के पहले। मुद्रा कांति-हीन हो गई थी; मगर बेचारे फेल हो गए। मुझे उन पर दया आती थी। नतीजा सुनाया गया, तो वह रो पड़े और मैं भी रोने लगा। अपने पास होने की खुशी आधी हो गई! मैं भी फेल हो गया होता, तो भाई साहब को इतना दुःख न होता, लेकिन विधि की बात कौन टाले।

मेरे और भाई साहब के बीच एक दरजे का अंतर और रह गया। और मेरे मन में एक कुटिल भावना उदय हुई कि कहीं भाई साहब एक साल और फेल हो जायँ, तो मैं उनके बरावर हो जाऊँ, फिर वह किस आधार पर मेरी फजीहत कर सकेंगे; लेकिन मैंने इस कमीने विचार को वल-पूर्वक दिल से निकाल डाला। आखिर वह मुझे मेरे हित के विचार से ही तो डाँटते हैं। मुझे इस वक्त अप्रिय लगता है अवश्य; मगर शायद यह उनके उपदेशों का ही असर हो कि मैं दनादन पास होता जाता हूँ, और इतने अच्छे नंबरों से।

अवकी भाई साहब बहुत कुछ नर्म पड़ गए थे। कई वार मुझे डाँटने का अवसर पाकर भी उन्होंने धीरज से काम लिया। शायद अब वह खुद समझने लगे थे कि मुझे डाँटने का अधिकार उन्हें नहीं रहा, या रहा, तो बहुत कम। मेरी स्वच्छंदता भी बढ़ी। मैं उनकी सहिष्णुता का अनुचित लाभ उठाने लगा। मुझे कुछ ऐसी धारणा हुई कि मैं तो पास हो ही जाऊँगा, पढ़ूँ या न पढ़ूँ, मेरी तकदीर वलवान है; इसलिए भाई साहब के डर से जो थोड़ा-बहुत पढ़ लिया करता था वह भी वंद हो गया। मुझे कनकौए उड़ाने का नया शौक पैदा हो गया था और अब सारा समय पतंगवाजी ही की भेंट होता था; फिर भी मैं भाई साहब का अदब करता था और उनकी नजर बचाकर कनकौए उड़ाता था। माँझा देना, कन्ने बाँधना, पतंग-टूर्नामेंट की तैयारियाँ आदि समस्याएँ सब गुप्त रूप से हल की जाती थीं। मैं भाई साहब को यह संदेह न करने देना चाहता था कि उनका संमान और लिहाज मेरी नजरों में कम हो गया है।

एक दिन संध्या समय, होस्टल से दूर, मैं एक कनकौआ लूटने बेतहाशा दौड़ा जा रहा था। आँखें आसमान की ओर थीं और मन उस आकाशगामी पथिक की ओर, जो मंदगति से झूमता पतन की ओर चला आ रहा था, मानो कोई आत्मा स्वर्ग से निकलकर विरक्त मन से नए संस्कार ग्रहण करने जा रही हो। बालकों की एक पूरी सेना लग्गे और झाड़दार बाँस लिए उसका स्वागत करने को दौड़ी आ रही थी। किसी को अपने आगे-पीछे की खबर न थी। सभी मानो उस पतंग के साथ ही आकाश में उड़ रहे थे, जहाँ सब कुछ समतल है, न मोटरकारें हैं, न ट्राम, न गाड़ियाँ।

सहसा भाई साहब से मेरी मुठभेड़ हो गई, जो शायद बाजार से लौट रहे थे। उन्होंने वहीं मेरा हाथ पकड़ लिया और उग्रभाव से बोले—'इन बाजारी लौंडों के साथ धेले के कनकौए के लिए दौड़ते तुम्हें शर्म नहीं आती? तुम्हें इसका भी कुछ लिहाज नहीं कि अब नीची जमाअत में नहीं हो; बल्कि आठवीं जमाअत में आ गए हो और मुझसे केवल एक दरजा नीचे हो। आखिर आदमी को कुछ भी तो अपने पोजीशन का खयाल करना चाहिए। एक जमाना था कि लोग आठवाँ दरजा पास करके नायब तहसीलदार हो जाते थे। मैं कितने ही मिडिलचियों को जानता हूँ, जो आज औवल दरजे के डिप्टी मैजिस्ट्रेट या सुपरिंटेंडेंट हैं। कितने ही आठवीं जमा-अतवाले हमारे लीडर और समाचार-पत्रों के संपादक हैं। बड़े-बड़े विद्वान् उनकी मातहती में काम करते हैं। और तुम उसी आठवें दरजे में आकर बाजारी लौंडों के साथ कनकौए के लिए दौड़ रहे हो। मुझे तुम्हारी इस कम-अकली पर दुःख होता है। तुम जहीन हो, इसमें शक नहीं, लेकिन

वह जेहन किस काम का, जो हमारे आत्मगौरव की हत्या कर डाले। तुम अपने दिल में समझते होगे, मैं भाई साहब से महज एक दरजा नीचे हूँ, और अब उन्हें मुझको कुछ कहने का हक नहीं है; लेकिन यह तुम्हारी गलती है। मैं तुमसे पाँच साल बड़ा हूँ और चाहे आज तुम मेरी ही जमाअत में आ जाओ और परीक्षकों का यही हाल है, तो निस्संदेह अगले साल तुम मेरे समकक्ष हो जाओगे, और शायद एक साल बाद मुझसे आगे भी निकल जाओ, लेकिन मुझमें और तुममें जो पाँच साल का अंतर है, उसे तुम क्या, खुदा भी नहीं मिटा सकता। मैं तुमसे पाँच साल बड़ा हूँ और हमेशा रहूँगा। मुझे दुनिया का और जिंदगी का जो तजरबा है, तुम उसकी बराबरी नहीं कर सकते, चाहे तुम एम० ए० और डी० लिट्० और डी० फिल्० ही क्यों न हो जाओ। समझ किताबें पढ़ने से नहीं आती। दुनिया देखने से आती है। हमारी अम्माँ ने कोई दरजा नहीं पास किया और दादा भी पाँचवीं छठी जमाअत के आगे नहीं गए; लेकिन हम दोनों चाहे सारी दुनिया की विद्या पढ़ लें, अम्माँ और दादा को हमें समझाने और सुधारने का अधिकार हमेशा रहेगा। केवल इसलिए नहीं कि वे हमारे जन्मदाता हैं; बल्कि इसलिए कि उन्हें दुनिया का हमसे ज्यादा तजरबा है और रहेगा। अमेरिका में किस तरह की राजव्यवस्था है, और आठवें हेनरी ने कितने ब्याह किए और आकाश में कितने नक्षत्र हैं, यह बातें चाहे उन्हें न मालूम हों; लेकिन हजारों ऐसी बातें हैं, जिनका ज्ञान उन्हें हमसे और तुमसे ज्यादा है। दैव न करे, आज मैं बीमार हो जाऊँ, तो तुम्हारे हाथ-पाँव फूल जायँगे। दादा को तार देने के सिवा तुम्हें

और कुछ नहीं सूझेगा; लेकिन तुम्हारी जगह दादा हों, तो किसी को तार न दें, न घबराएँ, न बदहवास हों। पहले खुद मरज पहचानकर इलाज करेंगे, उसमें सफल न हुए, तो किसी डाक्टर को बुलाएँगे। बीमारी तो खैर बड़ी चीज है। हम तुम तो इतना भी नहीं जानते कि महीने भर का खर्च महीना भर कैसे चले। जो कुछ दादा भेजते हैं, उसे हम बीस-बाईस तक खर्च कर डालते हैं, और फिर पैसे पैसे को मुँहताज हो जाते हैं। नाश्ता बंद हो जाता है, धोबी और नाई से मुँह चुराने लगते हैं; लेकिन जितना हम और तुम आज खर्च कर रहे हैं, उसके आधे में दादा ने अपनी उम्र का बड़ा भाग इज्जत और नेकनामी के साथ निभाया है और एक कुटुंब का पालन किया है, जिसमें सब मिलाकर नौ आदमी थे। अपने हेड मास्टर साहब ही को देखो। एम० ए० हैं कि नहीं, और यहाँ के एम० ए० नहीं, आक्सफोर्ड के। एक हजार रुपये पाते हैं; लेकिन उनके घर का इंतजाम कौन करता है? उनकी बूढ़ी माँ। हेडमास्टर साहब की डिग्री यहाँ बेकार हो गई। पहले खुद घर का इंतजाम करते थे। खर्च पूरा न पड़ता था। करजदार रहते थे। जब से उनकी माताजी ने प्रबंध अपने हाथ में ले लिया है, जैसे घर में लक्ष्मी आ गई है। तो भाई जान, यह गरूर दिल से निकाल डालो कि तुम मेरे समीप आ गए हो और अब स्वतंत्र हो। मेरे देखते तुम बेराह न चलने पाओगे। अगर तुम यों न मानोगे तो मैं (थप्पड़ दिखाकर) इसका प्रयोग भी कर सकता हूँ। मैं जानता हूँ, तुम्हें मेरी बातें जहर लग रही हैं......।'

मैं उनकी इस नई युक्ति से नतमस्तक हो गया। मुझे आज सचमुच अपनी लघुता का अनुभव हुआ और भाई

साहब के प्रति मेरे मन में श्रद्धा उत्पन्न हुई। मैंने सजल आँखों से कहा—'हरगिज नहीं। आप जो कुछ फरमा रहे हैं, वह बिलकुल सच है और आपको उसके कहने का अधिकार है।'

भाई साहब ने मुझे गले लगा लिया। और बोले—'मैं कनकौए उड़ाने को मना नहीं करता। मेरा जो भी ललचता है; लेकिन करूँ क्या, खुद बेराह चलूँ, तो तुम्हारी रक्षा कैसे करूँ। यह कर्तव्य भी तो मेरे सिर है।'

संयोग से उसी वक्त एक कटा हुआ कनकौआ हमारे ऊपर से गुजरा। उसकी डोर लटक रही थी। लड़कों का एक गोल पीछे पीछे दौड़ा चला आता था। भाई साहब लंबे हैं ही। उछलकर उसकी डोर पकड़ ली और बेतहाशा होस्टल की तरफ दौड़े। मैं पीछे पीछे दौड़ रहा था!

—

पंद्रहवीं सुरभि—

(श्री राय कृष्णदास)

इस नानारूपात्मक दृश्य जगत् में अंतःप्रविष्ट आत्मसत्ता का आभास देने के लिए ये खंडवृत्त का सहारा लेते हैं। इन छोटे छोटे खंडवृत्तों में व्यंजकता का ऐसा समावेश होता है कि जीवन, जगत् या आत्मतत्त्व की एक बड़ी ही मधुर और मार्मिक झाँकी मिल जाती है। जड़ और चेतन के जीवन-प्रवाह में एक ही अखंड सत्ता अपने निर्मल रूप में प्रवाहित होती रहती है, केवल बाह्य आवरण हटाकर अभ्यंतर में झाँकने की आवश्यकता है। ये अनेक दृश्यमय जगत् से खंडचित्र भी भिन्न भिन्न लिया करते हैं, एक ही प्रकार के तत्त्वदर्शन में संलग्न नहीं दिखाई देते। इनकी यह बहुत बड़ी विशेषता है, जो इस प्रकार के गद्यकाव्यकारों में कम दिखाई देती है। शैली बहुत ही सरल और शब्द बहुत ही चुने हुए एवं शक्तिपूर्ण होते हैं। सीधी-सादी पदावली में और बोलचाल के ही शब्दों में उत्कृष्ट व्यंजना करने में ये अत्यंत दक्ष हैं।

छाया-पथ

छाया-पथ—

अपनी हथेली पर इस दीपक को लेकर मैं वार-वार वाहर आती हूँ, किंतु इसकी ज्योति को पवन चुरा लेता है और मैं अंधकार में रह जाती हूँ। आह, मुझको बड़ी दूर जाना है और मार्ग नया है, वे-पहचाना है। यह निगोड़ा पवन केवल प्रभा चुराकर नहीं रह जाता, ऊपर से थपेड़े लगा-लगाकर मुझे खिजाता भी है। और, यह कल-कल कर बहती हुई सरिता भी मेरी हँसी तो नहीं उड़ा रही है ?

लो—यह तो बड़ा अंधेर हुआ, अव तो दीप वालने का साधन भी गया ! अरे, अपना ही घर राक्षस वनकर खाने दौड़ रहा है।

मरी सी मैं वाहर आती हूँ। पर यह क्या ! यहाँ तो कुछ और ही पाती हूँ—दीपक के अचानक वुझने से जो चकाचौंध का प्रतिघात होता था उससे यही जान पड़ता था कि यह काल की रात-जैसी अँधेरी है, किंतु अब उस चकाचौंध से नाता टूट गया, सो छाया-पथ का मृदुल प्रकाश ही मार्ग दिखाने को पर्याप्त है।

जीवन का उद्देश्य—

मैंने अपने मित्र का निरर्थक जीवन देखकर ज़लके कहा—"तुम अपने जीवन का उद्देश्य तो वतलाओ।"

"उन्होंने प्रसन्नता से, मुसकराकर कहा—"हाँ, हाँ।"

बात आई-गई हो गई।

एक दिन उन्होंने कहा—"चलो; जंगल की सैर कर आवें।" हम लोग जंगल में गए। वहाँ एक पतली-सी पयस्विनी वह रही थी। उसके दोनों ओर के सीले तटों पर गहरे हरे रंग की ऊँची घास उगी थी। बीच में उसका उथला पाट पत्थर के अड़बड़ टुकड़ों से भरा हुआ था। उनमें से अनेक तो उस तीर्थ की बित्ते-भर की गहराई में डूबे हुए थे और उन पर विवर्ण काई की मोटी तह जमी हुई थी। उनके चारों ओर कावे काटती हुई छोटी-छोटी मछलियाँ उस पारदर्शी जल में साफ दीख पड़ती थीं।

एक ओर घाटी में हरित वन के पीछे ऊँचा, चिपटा और बीहड़ पहाड़ी कगारा खड़ा हुआ था। दूसरी ओर छोटे-छोटे क्षुपों और वृक्षों के बाद दो-चार बड़े-बड़े वृक्ष दिखाई देते थे, जो प्रकाश की हलकी—आसमानी यवनिका से निकल पड़ते थे।

यत्र कुत्र पत्थर के गोल ढोके पानी के बाहर कछुए की पीठ-से निकले हुए थे। उन पर पानी के समय-समय चढ़ने-उतरने के चिह्न अंकित थे।

रह-रहकर पहाड़ी जंगली हवा के झोंके हम लोगों के मुँह पर पंखा झल देते थे। तबीयत ताजी हो गई, पर मुझे वह पयस्विनी कुछ न जँची। क्योंकि, मैं जो सहज ही उसमें पैर हिलाने लगा तो काई ने उठकर पानी डाबर कर दिया। मैंने कहा—"क्या गंदे नाले में ला खड़ा किया है। देखो न, मैंने जरा सा पानी को हड़ोल दिया, वह ज्यों का त्यों बना है।"

मेरे मित्र ने अन्यमनस्क होकर कहा—"हाँ।"

इसी समय हवा का एक झोंका आया। जिस जामुन के

नीचे हम खड़े थे उसके सूखे पत्ते खड़खड़ाकर अंतरिक्ष में नाचते हुए, शापच्युत अप्सरा की तरह उस जल में गिर पड़े—धीरे-धीरे आगे बढ़े।

मेरे मित्र ने कहा—"देखते हो ?"

मैंने कहा—"देखना क्या है, पत्तियाँ वह रही हैं।"

उन्होंने कहा—"हाँ; दिखाना यही था कि यह जंगली नदी पंकिल है—काई से भरी है, तनिक लहरा जाने से गंदी हो जाती है, तो भी इसका पारदर्शी जल निश्चयपूर्वक अपने उद्देश्य की ओर बढ़ता जा रहा है, चाहे उसकी गति कितनी ही धीमी क्यों न हो।"

"तो इससे क्या हुआ ?"

"बस ऐसी ही मेरे जीवन की गति भी जानो।"

मैं अवाक् रह गया।

व्याज-स्तुति—

वे मेरे मेहमान होकर आनेवाले थे।

मैंने अहोभाग्य समझा। आनंद के मारे मैं विह्वल हो उठी।

उनके स्वागत और आतिथ्य के लिए मेरे किए जो कुछ हो सकता था मैंने उस सबका पूर्ण समारंभ आरंभ किया। इसके सिवा दिन-रात मुझे कोई और काम न था।

नियत दिन वे पहुँचे। मैं मंगल-द्वार पर आरती लिए खड़ी थी। मेरे सारे तन में भावों की चपला कौंध रही थी। रफीरी वाले स्वागत के लिए भूप-कल्याण की तान ले उठे।

आते ही वे बोले—"वाह, क्या अच्छी आरती साजी है ! थाल में कैसी अच्छी साँझी वनाई है ! दीपशिखाएँ क्या

झलमला रही हैं ! और यह क्या अलंकृत किया गया है ? अहा, यहाँ से तो आँख ही नहीं हटती !······वाह, वाह, वाह, शहनाईदार ने किस खूबी से निषाद लगा दिया है !"

यों ही वे एक-एक चीज का बखान करने लगे ।

मेरी ओर ध्यान भी न दिया ।

पर उनकी इस प्रशंसा और परितोष से ही मैं पूर्णतः प्रसन्न और प्रफुल्ल हो उठी ।

कलरव —

प्रभात के प्रथम पवन के संग एक कोकिला और एक श्यामा, चंपे के पेड़ पर आ बैठीं । दोनों बातें करने लगीं ।

कोकिला—मैंने एक कूक लगाई कि वसंत आ पहुँचा ।

श्यामा—क्या कहना ! तू डाल-डाल घूमनेवाली पराये की पाली पोसी ! जहाँ तूने रसाल का पल्लव भख लिया कि पागल होकर चिल्लाने लगी ।

कोकिला—चुप छिछोरी ! मैं दूसरों की बोली की नकल तो नहीं उतारती ! क्या तेरी कोई अपनी बोली भी है ?

× × ×

कुछ देर में व्यंगोक्तियों से थककर दोनों चुप पड़ गईं । पर उन्हें सन्नाटा अखरने लगा । तब वे मेल की बातें करने लगीं । एक दूसरे की हामी भरती । 'वाह वाह' की झड़ी लगाती । झूमने लगती । दोनों के मुख पर खूब प्रसन्नता झलक रही थी ।

दिन-भर यह सिलसिला न टूटा ।

संध्या आ चली । ज्यों ज्यों संसार से विदा होने का समय आता गया, त्यों त्यों सूर्य का अनुराग भी बढ़ता गया ।

अंत को जब संध्या हुई जब कमल नेत्र बंद करके सोने का उपक्रम करने लगे, तब वे अपने-अपने बसेरों को उड़ चलीं।

पर दोनों अपने मन में यह पछताती गईं कि खेद उसने मेरी एक बात भी न समझी।

देवाधिदेव—

प्रश्न—उनका मित्र धनद है, फिर भी वे अकिंचन क्यों हैं?

उत्तर—अपनी रुचि तो ठहरी। उनकी वही निधि है। क्या कुवेर के पास वह है? कुवेर की निधि तो रावण छीन सकता है, पर वही उन्हें अपना सिर चढ़ा देता है।

प्र०—कुवेर तो राजराजेश्वर है।

उ०—पर देवाधिदेव तो नहीं।

प्र०—कुवेर के हाथ में अखिल ब्रह्मांड की निधि है।

उ०—हाँ, आत्मनिधि के सिवा।

प्र०—आत्मनिधि की क्या गणना?

उ०—गणना यही कि कुवेर ने अपने-आपको ब्रह्मांड-भर की निधियों के हाथ में बेच रक्खा है। उसके आपे का रूप है—उन्हीं की चिंता।

प्र०—तो क्या कुवेर सुखी नहीं?

उ०—उसे वैसा सुख है जैसा समुद्र को—वह रत्नाकर है पर उसके अंतस् में सदा आग जला करती है और वह एक क्षण भी स्थिर नहीं रह सकता। वह एक सीमा में निरुद्ध हुआ, वसुंधरा के चरणों में पड़ा हुआ, उन्हें धोया करता है। उसके रत्न दूसरों ही के काम आते हैं।

प्र०—और उनकी तो कहो।

उ०—सुनो—आकाश उदार, निःसीम और निर्विकार है।

सर्वव्याप्त है। कभी अनेकों रंगों का प्रदर्शन होता है, कभी लाखों हीरे-मोती छिटकाए जाते हैं। कभी दौड़ते हुए मेघ-डंबर के रूप में वह समूचा का समूचा धावन करता है। कभी सूर्य का प्रकाश है, कभी चंद्र का शेखर। कभी दिगंबर नाचता है, कभी गजकृत्ति धारण करता है। कभी दशमी का गजदल निकलता है, कभी शरत्पूर्णिमा का रास रचा जाता है, कभी होली का गुलाल उड़ता है। यों वह अनंत विभूति दिखलाता है, पर रहता है वह ज्यों का त्यों, निर्लिप्त। समझा कुछ?

छुटकारा नहीं—

मैं एक अत्यन्त सुंदर चित्र देख रहा था। अचानक किसी के गाने का शब्द सुन पड़ा। तबीयत फड़क उठी। मैंने चित्र रख दिया। खिड़की से देखा कि अंधा गा रहा है। जब वह समाप्त कर चुका, मैंने उसपर रुष्ट होकर कहा—"तूने क्यों ऐसे समय मेरा मन आकृष्ट किया?—चित्र देखते-देखते मेरे हृदय में एक अपूर्व भावना उठ रही थी, वह अधूरी रह गई।"

वह हँस पड़ा। पूछा—"कैसा चित्र है?"

मैंने वर्णन किया।

तब वह कहने लगा—"भैया, एक दिन मैं चित्रकार था; मैंने ही उसे बनाया था। तब लोग उलाहना देते थे कि तुम ऐसे चित्र बनाते हो कि उसे देखने में लोग स्वयं चित्र-लिखे से रह जाते हैं। अब अंधा होकर—अपने लिए सारी दुनिया गँवाकर—जो गाता हूँ तो भी उलाहने से मेरी जान नहीं छूटती; हाय!"

सोलहवीं सुरभि—

(श्री पं० केशवप्रसाद मिश्र)

इस छोटे से आत्मव्यंजक निबंध में भगवान् श्रीकृष्ण का पूरा चरित्र केवल नामों की व्याख्या कर देने से ही व्यक्त हो गया है। व्याख्या भी ऐसी नहीं कि सूत्रों की उद्धरणी से रूपसिद्धि करनी पड़े, लीला का स्तवन करते करते नामों की निरुक्ति भी हो गई। भक्त की दृष्टि से इसमें नाम, रूप, लीला और धाम का चिंतन भी है और भावक की दृष्टि से भाषाविज्ञान का मनन भी। अपने ढंग का यह अद्वितीय निबंध है। एक एक नाम की व्याख्या में जहाँ भक्तिमार्ग के ग्रंथ अध्यायों का सहारा लेते हैं वहाँ भाषाविज्ञान के ग्रंथ सिद्धान्तों की परंपरा का। कृष्ण, गोविंद, गोपेंद्र, पुरुषोत्तम आदि ऐसे ही शब्द हैं। इसमें दोनों का तत्त्व है; अपना पक्ष भी है। कहना चाहिए कि छोटी सी सीपो में मुक्ताफल भरे हुए हैं। उपक्रम और उपसंहार का भी समुचित योग है; आदि में है '?' (क्या) और अंत में है 'का कहिए' (?)।

१

काले पाख की काली रात को कारा की कालकोठरी में जो जन्म ले उसे कृष्ण न कहें तो क्या शुक्ल कहें! भले ही वह अपने कर्मों के मान से आगे चलकर चंद्र बन जाय! 'गौर कृष्ण' होकर पुजे!

वाह री आपकी नटखटी! आपने तो दुनिया सिर पर उठा ली है। बित्ता-भर के बित्तन सवा हाथ की डाढ़ी! नन्हें से तो आप हैं, पर सबको परेशान कर रखा है। किसी की मटकी फोड़ी, तो किसी का कूँड़ा गिराया! किसी की नैनी ले भागे तो किसी की छाछ फैला दी! कभी आप चुपके से बछड़ा छोड़ देते हैं, तो कभी धौरी की टाँगों में सिर डालकर बेखटके ऐन चूसने लगते हैं। न डरें किसी डायन से, न सहमें किसी दानवा से! अच्छा है! आज खूब सूझेगी! क्या करे मा बेचारी! तंग आकर उसने कमर में रस्सी बाँधी है! दामोदरजी नमस्कार!

धन्य गोपाल, धन्य! भारत के प्राण गोधन की आप न रक्षा करें तो कौन करे? बन में गायें स्वच्छंदता से चर रही हैं। कोई रोक-टोक नहीं! चाहे झाड़-झंखाड़ के झुरमुट में दुप जायँ, चाहे चौड़े-धाड़े हरी-हरी दूब ही टूँगें। उनका मन! उनकी मनमानी! किसी की ताब नहीं की कोई उनका बाल बाँका करे। साँझ हुई। 'गोसंघ' लेकर घर लौटना है। ग्वाले गायें समेट रहे हैं? सब आ गईं? और तो आईं, पर लाली का कहीं पता नहीं! अँधेरा छा रहा है। जंगल में

श्वापदों का राज्य होगा ! किसका साहस है कि लाली को ढूँढ़ने जाय ? गोविंद जायेंगे । गोविंद, धन्य गोविंद !

वाह, आपकी आँखों में कैसा नूर है ! कैसी दिव्य ज्योति है ! (कैसा जादू है ! एक बार की चितवन चित्त चुरा ले जाती है। माधुर्य और तेज का, सतर्कता और विस्रंभ का, उल्लास और गांभीर्य का, विलोलता और स्थैर्य का, कातरता और पौरुष्य का ऐसा योग, ऐसा सहविहार कहाँ देखने में आता है ? पुंडरीकाक्ष के माने भी तो यही हैं !)

शरत्काल की धवल राका खिली है ; समस्त सृष्टि में उन्मदिष्णुता सी जाग उठी है। हिमांशु के निरावरण करों का स्पर्श पाकर प्रकृति पुलकित हो रही है। रूपवती गोपिकाओं का उद्दाम यौवन केलि-लालसा से निर्मर्याद हो रहा है। उस वंशीधर त्रिलोक-सुंदर के संग ही उसे वे चरितार्थ करना चाहती हैं। उधर मदन भी मोहन के मोहन का ऐसा सुअवसर हाथ से निकल जाने देना नहीं चाहता। शील-निधान गोपियों का यह प्रणयानुरोध स्वीकार करते हैं। रास रचा जाता है। नटवर खुल खेलने के लिए तैयार खड़े हैं। गलबहियाँ पड़ जाती हैं। पैर थिरकने लगते हैं। लालसा तृप्त होती है। रात बीत जाती है। हे अच्युत ! आप गोपी-मोहन तो हैं ही, मदनमोहन भी हैं।

जन, जनम-मरण का खिलौना जन, कर क्या सकता है ! साधारण से साधारण संकट ही में उसके हाथ-पैर फूल जाते हैं। इस मांस-पुद्गल में कैसा सत्त्व और क्या सार ! इसकी सब कामनाएँ, सारे मनोरथ, समस्त उत्साह और संपूर्ण साहस, जहाँ के तहाँ, रह जायँ यदि आप इसके अर्दन*

* मिलाओ 'अर्ज' ।

न हों; समय समय पर इसे हाँका न करें। वस्तुतः जन की बागडोर जनार्दन के ही हाथ है।

गोपेश्वर ! आपने सदा गायें ही दुहीं। धौरी, काली, भूरी, लाली सभी का स्वच्छ कुमुदवर्ण क्षीर एकरूप ! एकरस ! एक-सत्त्व ! जब चाहा जिसको पिलाया। आज या तो गायें ठाँठ हो गई हैं या दूध का रंग बदल गया है। अंधी जनता आश्चर्य करती, समझती है कि मेरी काली गाय सफेद दूध कहाँ से देगी ! हे गोपाल-नंदन ! अब आप कब सब गायें दुहकर समझदार लोगों को एक-सा अमृत दूध पिलायेंगे ?

दुनिया दुरंगी है। समस्त विश्व द्वंद्व की प्रचंड थपेड़ से व्यथित हो रहा है। कोई ऐसा मार्ग नहीं जिस पर सबके सब सुख-शांति से चलकर मनुष्यता-देवी को प्रमुदित होने का पूरा पूरा अवकाश दे सकें। किसी से कुछ जोग-जुगुत पूछना चाहिए ? कौन है जो इन प्रबल विरोधियों, उच्छृंखल वेगों का योग कराकर एक ऐसा समंजस ऊर्ज उत्पन्न करे जिससे विश्वजननी कल्याण संपन्न हो ? यों तो नेता सभी हैं, पर कर्मकुशल योगेश्वर कृष्ण के सिवा इस योग की साधना कोई नहीं कर सकता।

धर्मराज की राजसूय-सभा बैठी है। बड़े-बड़े पुरुष, सुपुरुष, अतिपुरुष और पुरुषाभास भी विराजमान हैं। प्रथम-पूज्यता का प्रश्न उपस्थित है। निर्णय विवादग्रस्त हो रहा है। आजन्म ब्रह्मचारी सकलशास्त्रनिष्णात परम आप्त कुरु-प्रवीर भीष्मपितामह निर्णय देते हैं—"चक्रपाणि कृष्ण ही पुरुषोत्तम हैं, इन्हीं की प्रथम पूजा होनी चाहिए।"

'केशव कहि न जाय का कहिए ?'

सत्रहवीं सुरभि—

(श्री वियोगी हरि)

[भक्त के हृदय की विभिन्न स्थितियों और भगवान् की शक्ति, विभूति और सौंदर्य को ओर उसके आकर्षण की व्यंजना करने के लिए लेखक अनेक प्रतीकात्मक खंड दृश्य उपस्थित किया करते हैं। सभी का उद्देश्य एक ही है, सबमें एक ही भावना का स्रोत छलकता रहता है। उक्तियों का विधान करने में लेखक बहुत ही समर्थ दिखाई देता है। इनकी रचनाओं में कवित्व का आवश्यक पुट अन्य लेखकों को अपेक्षा अधिक और बराबर पाया जाता है। तर्कों का भी समुचित विधान हो जाने से इनकी रचनाएँ कई दृष्टियों से पूर्ण दिखाई देती हैं। शैली सरल होती है और पदावली मधुर एवं परिष्कृत। भक्तिभाव की व्यंजना के लिए गद्यकाव्य की जितनी आवश्यक सामग्री हो सकती है, इनमें पर्याप्त है, सुसंस्कृत रूप में मिलती है।]

भावना

क्यों नहीं ?—

यदि मेरा मस्त मन मृग है, तो मैं तुम्हारी स्मृति को कस्तूरी क्यों न कहूँ ?

तुम्हारे ध्यान-चित्र को मैं चंद्र कह सकता हूँ या नहीं ? यदि हाँ, तो मुझे अपने मुग्ध मन को चकोर कहने से क्यों रोकते हो ? जब मेरा चंचल चित्त चातक होने को अधीर हो रहा है, तब तुम्हें स्वाति-घन बनने में आपत्ति ही क्या है ? तुम्हारे रूप को क्या मैं श्याम घन की उपमा दे सकता हूँ ? यदि हाँ, तो मेरे उन्मत्त मन को भी मयूर बनकर नृत्य करने दो, प्यारे ! यदि तुम चोर होने में ही अपना मान समझते हो तो मेरे तिमिराच्छन्न हृदय को, छिपाने के लिए, अपना भवन क्यों नहीं बना लेते ? बाहर खड़े-खड़े मेरे आँसुओं से भीगते क्यों हो ? मेरे हृदय को क्या तुम अब भी अपना विश्रांति-मंदिर नहीं मानते ? यह कैसे हो सकता है कि, तुम अपने को जल कहो और मैं मीन होने का दावा न करूँ ?

क्या यह युक्ति-संगत है कि, तुम तो मुझे मधुकर कहो, और मैं तुम्हें सरोज न मानूँ ? यह भी क्या संभव है कि, मैं तो तुम्हें दीपक के रूप में देखूँ, और तुम मुझे पतंग न मानो ? तुम्हें यदि मैं सागर कह सकता हूँ, कोई कारण नहीं, कि मैं अपने को तरंग न कहूँ। तुम बिंब हो, तो कहो, मैं तुम्हारा प्रतिबिंब हुआ या नहीं ? मेरी प्रवृत्ति को अपनी प्रेम-तंत्री की झनकार कहने में क्या तुम्हें कोई संकोच है ?

यह झूठ है कि, तुम चुंबक हो। यदि सच ही चुंबक हो तो मेरे लोहे-जैसे कठोर मन को आकर्षित क्यों नहीं कर लेते? यदि मेरे आँसुओं को मोतियों की समता दी है, तो उनकी माला पहनने में तुम्हें आपत्ति ही क्या है? मेरे हृदय को यदि प्रस्तर-खंड मान बैठे हो, तो उस पर अपने प्रेम-रस का झरना क्यों नहीं झरने देते? यह कभी न होने दूँगा, कि तुम तो बजाते रहो वीणा, और मैं मृग की भाँति तुम्हारे स्नेह-जाल में फँसने न जा पहुँचूँ। तो फिर इस गली से निकलते ही क्यों हो? प्यारे, यह कैसे संभव हो सकता है कि, इस मार्ग पर तुम्हारे चरण पड़ें और मैं अपने को वहाँ की धूलि न बना लूँ?

साधना—

अब वे हँसते हुए फूल कहाँ! अपने रूप और यौवन को प्रेम की भट्ठी पर लम्मकर न जाने कहाँ चले गए। अब तो यह इत्र है। इसी में उनकी तपस्या सिद्धरस है। इसी के सौरभ में अब उनकी पुण्यस्मृति का प्रमाण है। विलासियो! इसी इत्र को सूँघ-सूँघकर अब उन खिले फूलों की याद किया करो। अब मेंहदी के वे हरे लहलहे पत्ते कहाँ! अपने रूप और यौवन की प्रेम की शिला पर पिसाकर न जाने कहाँ चले गए। अब तो यह लाली है। इसी में उनकी साधना सिद्धरस है। इसी लाली में अब उनकी पुण्यस्मृति का प्रमाण है। विलासियो! इसी लाली को अपने तलुओं और हथेलियों पर देख-देखकर अब उन हरे लहलहे पत्तों की याद किया करो। अब सीप के वे अनबेधे दाने कहाँ! अपने सरस हृदय को प्रेम के शूल से छिदाकर न जाने उन्होंने क्या किया। अब तो उन घायलों की यह माला है। इसी में उनकी भावना

का सिद्धरस है, इसी सुषमा में अब उनकी पुण्यस्मृति का प्रमाण है। विज्ञासियो ! इसी माला को अपने कंठ से लगाकर अब उन अनवेधे दानों की याद किया करो।

उपालंभ—

सच कहता हूँ, तुम्हारी स्मृति-बालिका बड़ी हठीली और चुलबुली है। कितना ही हटाओ, मेरे हृदय-मंदिर के भीतर आ ही पैठती है। आए, घड़ी-दो-घड़ी शांति से बैठे—कोई रोकता नहीं। पर नित्य का यह ऊधमचारा किससे देखा जाता है ? कहाँ तक सहूँ ? शिकायत कर ही आती है।

अपने हृदय-मंदिर पर मैंने एक लालसा-लता चढ़ाई थी। आँसुओं से सींच-सींचकर उसे बढ़ाया था। उसके फूल कहीं फेंक न देता, तुम्हारे ही चरणों पर आज चढ़ा देता। पर मन की मन ही में रही। जब उसके फूलने के दिन आए तब उसे तुम्हारी स्मृति-बालिका ने उखाड़कर फेंक दिया। तुम्हीं बताओ इससे उसे क्या मिला होगा ? मैं ही जानता हूँ कि, उस दिन मुझे कितना दुःख हुआ था।

एक दिन तो मैं उसे हटाते-हटाते हैरान हो गया। मेरी आँखों की कटोरियों में थोड़ा-सा मधु भरा रखा था। उस रस को मैं किसी के हाथ कुछ बेच न डालता, तुम्हारे ही चरणों पर किसी दिन उड़ेल देता। पर, वह भी न कर सका। तुम्हारी हठीली स्मृति दुलारी आई और उन मधु-भरी कटोरियों को औंधाकर चंपत हो गई। तुम्हीं बताओ, उसका यह अपराध क्षमा करने योग्य है ?

अपनी लाड़ली लली की एक लीला और सुन लो। किसी तरह मैंने अपना मन-मानिक मानसी मंजूषा में बंद करके रख छोड़ा था। किसे उसका पता था ? पर, तुम्हारी स्मृति ठहरी

घट-घट वासिनी। उसे मेरे छिपाव का पता चल ही गया। बस, फिर उसे चुराते देर न लगी। उस मानिक को मैं तुम्हारी अँगूठी में जड़वाना चाहता था। सो, वह भी साध पूरी न हुई। तुम्हारी प्यारी स्मृति उसे भी ले भागी। पता नहीं, उसने उस मानिक का फिर क्या किया! कहाँ तक उसके ऊधमचारे की शिकायत करूँ!

ठहरो, नाथ! ठहरो। मैं ही भ्रम में था। तुम्हारी दुलारी स्मृति निरपराधिनी है। उसने मेरा कुछ नहीं बिगाड़ा। बलिहारी, तुम्हारे चरणों पर मैं अपनी लालसा-लता के फूल चढ़े देख रहा हूँ, तुम्हारे पाद-पद्मों पर अपनी कटोरियों का वह मधु भी छिड़का हुआ पाता हूँ। और, तुम्हारी अँगूठी में मेरा वह चुराया हुआ मन-मानिक भी जड़ा हुआ है।

उस पार—

माँझी, मेरी नाव उस पार लगा दे। क्या हुआ, जो असमय हो गया! अभी आधी ही रात गई होगी। हाँ, धार का वेग निस्संदेह भयावह है। इसलिए डर रहा है कि कहीं नाव उलटकर डूब न जाय? उठ, डाँड़ पकड़। नाव उलटेगी नहीं। माँझी, डर मत।

अरे, कैसा बैठा-बैठा ऊँघ रहा है। तेरे लिए, देख कब से ठिठुर रहा हूँ! सुनता ही नहीं! यहाँ तो न रह सकूँगा। यहाँ का यह विलास-भवन अब देखा नहीं जाता। यह तो मानो खाए जाता है। यह विहार-वाटिका भी तो जलकर राख का ढेर हो गई है। सो, अब मुझसे यहाँ क्षणमात्र भी खड़ा नहीं रहा जाता। पूर्वस्मृति की काली छाया पीछे पड़ रही है। अरे, उफ! कितनी वेदना है! कैसी यंत्रणा है! तेरे पैर छूता हूँ, निर्दय! नाव खोल दे।

क्या कहा, कि वह पार अज्ञात है? हो अज्ञात—उसकी कोई चिंता नहीं। यह ज्ञात पार ही मुझे क्या सुख दे रहा है! अब तो तू मेरी यह नाव उस अज्ञात अपरिचित पार को ही ले चल।

वहाँ पहुँचने के लिए कैसी तीव्र उत्कंठा है! कैसी अतृप्त लालसा है! माना कि उस पार का आनंद अखंड और नित्य है, पर उस पर मेरा अधिकार ही क्या। उस पार वाले की बाँसुरी क्या कभी सुनने को मिलेगी? उधर की मधु-पेया क्या कभी इन प्यासी आँखों को पिला सकूँगा?

अब तो मेरी सारी साधनाओं का परिणाम तेरे ही हाथ में है। जब तक तू यह डाँड़ न पकड़ेगा, तब तक उस पार के लिए मैं छटपटाता ही रहूँगा। चल, एक बार तो कृपा कर उस बाँसुरी की फूँक इन व्याकुल कानों में भर दे। वह पेया एक बार तो इन प्यासी आँखों को पिला दे। यहाँ की कामना, यहाँ की उत्कंठा में परिणत कर दे। प्यारे, माँझी, अब मेरी नाव तू उस अज्ञात पार की ही ओर खेकर ले चल। भाई, तेरे पैर छूता हूँ कृपा कर मेरी यह झाँझरी नाव शीघ्र खोल दे।

कसौटी—

कैसे मान लूँ कि मेरा मटमैला मन निश्चय ही कांचन है! जब तक मैंने, नाथ! इसे तुम्हारी भक्ति-कसौटी पर कस नहीं लिया है, तब तक इसके वास्तविक सुवर्ण होने में मुझे संशय ही बना रहेगा। तो क्षणमात्र के लिए क्या वह दुर्लभ कसौटी दे दोगे, कृपा-धाम?

इतना तो मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ, कि इस स्वर्ण में न जाने कितना मैल भरा है। यह सब मेरी कुवासनाओं

की कृपा है। तुम्हारी उस कसौटी पर कसने के पहले मुझे इस कनक को तनिक तपा लेने दो।

प्रियतम, तुम्हारी आत्यंतिक विरह-व्याकुलता ने अभी तक मेरे हृदय को संघर्षित नहीं किया। एक भी चिनगारी यदि वासनाओं के गीले इंधन पर पड़ जाती, तो कभी की वहाँ आग सुलग गई होती। अब, कहो, किस आग में इसे तपाऊँ? मेरे पास सुहागा भी तो नहीं है। बिना अनुराग-सुहागा मिलाए इसमें वह लाली कैसे आयगी! सो वह भी प्रभो, तुम्हीं को देना होगा! हाँ, तो फिर और कौन देगा?

मेरी यह धारणा है, कि इसका मैल और खोटपन तुम्हारे विमल विरह और अमल अनुराग ही से दूर हो सकेगा। जब तक मैल जलकर दूर नहीं हो गया तब तक भक्ति-कसौटी की अभियाचना व्यर्थ है। जन-वत्सल! तो क्या किसी दिन मुझे अपना विरह, अनुराग और भक्ति देने की कृपा करोगे?

अट्ठारहवीं सुरभि—

(श्री पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी)

हिंदी के 'लिंग' (जेंडर) का विचार बहुत ही विद्वत्तापूर्ण शैली में किया गया है। महाभाष्यकार पतंजलि ने स्पष्ट कह दिया है कि 'लोकाश्रयात् च लिंगम्' अर्थात् लिंग का निर्णय लोकव्यवहार से ही होता है। कोई शब्द क्यों पुंलिंग है क्यों स्त्रीलिंग, इस 'क्यों' के फेर में न पड़कर भाषा के व्यवहार का ध्यान रखना चाहिए। इसी से 'क्यों' का उत्तर भी मिल जायगा। कुछ अपवादों के होते हुए भी हिंदी में लिंग-भेद किसी निश्चित नियम के अनुसार ही होता है। पूरबी और पछाहीं लेखकों के कारण बहुत से शब्द दो-दो लिंगों में चलते हैं। ऐसा होना ठीक नहीं। हिंदी भाषा भी सीखने और पढ़ने से आती है। किसी विशेष प्रदेश का आग्रह त्याग देना होगा। दूसरी भाषाओं से आनेवाले शब्दों में भी पूरब और पछाहँ के भेद से लिंग-भेद है। बर्फ, मोटर, नोटिस पश्चिम में पुंलिंग बोले जाते हैं पर पूरब में स्त्रीलिंग। लेखकों को मनमानी न करके व्यवहार पर ही विचार रखना चाहिए और खड़ी बोली जहाँ की भाषा है वहाँ जिस लिंग में शब्दप्रयोग हो उसी को ग्रहण करना चाहिए।

हिंदी-लिंग-विचार

संस्कृत-व्याकरण का लिंग-प्रकरण जैसा कठिन और जटिल है वैसा हिंदी-व्याकरण का नहीं। पत्नी-वाचक होकर भी 'कलत्र' शब्द संस्कृत में क्लीबलिंग और 'दार' शब्द पुंलिंग है। समस्त संसार का स्रष्टा होकर भी ब्रह्म नपुंसक है। यह सरासर असंभव और अस्वाभाविक है। आनंद की बात है, हमारी प्यारी हिंदी में ऐसी बेढंगी बातें नहीं। यहाँ पुरुष पुरुष और स्त्री स्त्री रहती है। लिंग-विपर्यय नहीं होता।

संस्कृत में तीन लिंग हैं—पुंलिंग, स्त्रीलिंग और क्लीबलिंग। संस्कृत से निकली हुई भाषाओं का विचित्र हाल है। किसी में तीन लिंग, किसी में दो और किसी में एक भी नहीं, जैसे गुज-राती-मराठी में तीन हैं। बँगला और उड़िया भाषाओं में संस्कृत-तत्सम शब्द संस्कृत के अनुसार उन्हीं तीन लिंगों में विभक्त हैं, पर ठेठ बँगला और उड़िया शब्द लिंग-रहित हैं। पंजाबी और सिंधी की तरह हिंदी में दो ही लिंग हैं। यहाँ स्त्री या पुरुष के सिवा कोई नपुंसक नहीं। अगर कुछ गड़बड़ भी है तो चील-कौओं में। क्योंकि हिंदी में कौआ नित्य पुंलिंग और चील नित्य स्त्रीलिंग है। पर तो भी कुछ लोग हिंदी के लिंग-प्रकरण पर कुठाराघात करने के लिए तुले बैठे हैं। अगर इनकी चलती तो बँगला की तरह हिंदी के लिंग का भी आज तक सफाया हो जाता। पर भगवान् गंजे को नाखून ही नहीं देता।

लिंग-विरोधियों का कहना है कि हिंदी का लिंग-भेद बड़ा कठिन है। और भाषाओं में तो संज्ञा-सर्वनाम में लिंग होता है;

अयोग्य व्यक्ति के पास साधन नहीं होता।

पर हिंदी की क्रिया भी लिंग से खाली नहीं। इससे भिन्न भाषा-भाषी ही नहीं, हिंदी भाषा-भाषी भी हैरान हैं। बहुत सावधान रहने पर भी वे लिंग की भूलों से नहीं बच सकते, क्योंकि हिंदी में सजीवों की कौन कहे, निर्जीव भी स्त्रीलिंग-पुंलिंग के फेर में पड़े हैं। इसलिए जहाँ तक बने, जल्द इस बला को हिंदी से दूर करना चाहिए, क्योंकि हिंदी के राष्ट्रभाषा होने में लिंग बड़ी भारी बाधा डाल रहे हैं। इत्यादि।

एक ग्रंथ में लिखा है—"हिंदी में सबसे बड़ा झगड़ा लिंग भेद का है। इसके कोई भी स्थिर नियम नहीं हैं, केवल बोलचाल और महावरे के अनुसार इस पर काररवाई की जाती है।" यदि कोई भिन्न भाषा-भाषी या विदेशी ऐसी बात कहता तो आश्चर्य न होता, पर ऐसा वह कहते हैं, जो हिंदी के सुलेखक और सुकवि भी कहाते हैं। इनके मुँह से यह सुनकर कि हिंदी के कोई भी स्थिर नियम नहीं, आश्चर्य ही नहीं, कौतूहल भी होता है। स्थिर नियम हैं या नहीं, यह कुछ न कह केलॉग साहब क्या कहते हैं, केवल वही यहाँ उद्धृत कर देता हूँ। केलॉग साहब ने अँगरेजों के लिए हिंदी का व्याकरण बनाया है। उसमें वह कहते हैं—

"हिंदी-शब्दों का लिंग यद्यपि मनमाने तौर से बना लिया गया है तथापि कुछ नियम हैं, जिनसे अधिकांश शब्दों का लिंग जाना जा सकता है।" बस, इन्हीं दोनों उक्तियों को आप मिलाकर देख लें, और जो कुछ समझना हो समझ लें। एक तो हिंदी-भाषा-भाषी हैं और दूसरे भिन्न भाषा-भाषी विदेशी। पहले सज्जन कहते हैं कि स्थिर नियम नहीं हैं और दूसरे कहते हैं कि हैं। मैं समझता हूँ कि आप लोग पहले सज्जन की ही बात मानेंगे, क्योंकि वह हिंदी के सुपुत्र हैं। उनकी ही

बात सत्य हो सकती है। पर अफसोस! बात उल्टी निकली। केलॉग साहब ने कुछ नियम बताए हैं, जिनमें पहला यह है— अर्थ और प्रत्यय के अनुसार लिंग होता है। और बात भी यही है। पर जो यह नियम नहीं जानते वे लिंग-विपर्यय करते और कहते हैं कि हिंदी में स्थिर नियम ही नहीं है। खैर, नियम है कि जिन शब्दों में 'हट', 'वट' आदि प्रत्यय हों वे स्त्रीलिंग होते हैं, जैसे बनावट, चिल्लाहट आदि। कुछ लोगों ने भ्रम-वश 'बुलाहट' और 'बनावट' के वजन पर 'झंझट' को भी सारी पहना एक नया झंझट खड़ा कर दिया। 'झंझट' में 'हट', 'वट' कोई प्रत्यय नहीं। यह स्वतंत्र शब्द है। फिर यह कैसे स्त्रीलिंग हो गया, इसका विचार कोई नहीं करता। सभी 'गड्डलिका-प्रवाह'-न्याय से चले जाते हैं। अगर सोचें-विचारें तो ऐसी भद्दी भूलें ही न हों। शिष्ट प्रयोग की तरफ जाइए, तो वहाँ भी झंझट आपको पुरुष-वेष में ही मिलेगा।

हिंदी के प्रसिद्ध कवि और लेखक स्वर्गवासी पंडित प्रताप-नारायण मिश्र 'मन की लहर' में कहते हैं—

"मिल रहे अपने प्यारे से नशे में उसके चूर रहे;
जी चाहे सो करे और सारे झंझट से दूर रहे।"

'भारतमित्र' के भूतपूर्व संपादक स्वर्गवासी बाबू बालमुकुंद गुप्त दिल्ली-प्रांत के वासी थे। उन्हें इस विषय का मैं प्रमाण (अथारटी) मानता हूँ। वह 'झंझट' को सदा पुंलिंग ही मानते थे इसका प्रमाण 'गुप्त-निबंधावली' में है। उसमें लिखा है—"न मार्ग चलते भीड़ में रुकने का झंझट।" जोधपुर-निवासी प्रसिद्ध इतिहासज्ञ मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ 'बहराम बहरोज' नाम की हिंदी-पुस्तिका में लिखते हैं—"बहरोज ने यह खबर सुनकर अपने बाप और चाचा से कहा कि मैं तो विवाह

करके बड़े झंझट में पड़ गया।" 'सतसई-संहार'-वाले श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा संस्कृत-हिंदी के अच्छे विद्वान् और फारसी-उर्दू के आलिम हैं। उनसे पूछा, तो वह लिखते हैं—"झंझट के झगड़े में आपकी सर्वतोमुखी जीत हुई। उर्दू के कोशकार फरहंगे-आसफिया के लेखक देहलवी और जलाल तथा जलील लखनवी इसे मुजक्कर (पुंलिंग) ही मानते हैं।" पद्मसिंहजी सिर्फ राय ही नहीं देते, पुंलिंग में इसका प्रयोग भी करते हैं। अपने पत्र में आप लिखते हैं—"अब आपको गृहस्थ के झंझटों का अधिक सामना करना पड़ेगा।" इसलिए झंझट के पुंलिंग होने में अब झगड़ा या झंझट न होना चाहिए।

झंझट के बाद 'आहट' है। इसकी भी खूब खींचा-तानी है। इसमें 'हट' प्रत्यय नहीं, तो भी इसका प्रयोग स्त्रीलिंग-सा है। स्वर्गवासी राजा लक्ष्मणसिंह हिंदी के उन्नायकों में से हैं। वह आगरे के निवासी थे। इससे उनके प्रयोग प्रमाण-स्वरूप हैं। राजा साहब के बनाए 'अभिज्ञान शाकुंतल'-नाटक की दो प्रतियाँ मेरे सामने हैं। एक तो आगरे के मून-प्रेस की सन् १९०४ की छपी है और दूसरी सन् १९०८ ई० की है, जो प्रयाग के इंडियन प्रेस में छपी है। इन दोनों में बड़ा भारी लिंग-भेद है। अब मैं किसे प्रमाण मानूँ, यह समझ में नहीं आता।

आगरेवाली प्रति के दसवें पन्ने की टिप्पणी में लिखा है—"हमारा आहट पाकर कुछ भी नहीं चौंकते।" और प्रयागवाली के चौथे पृष्ठ में है—"हमारी आहट पाकर कुछ भी नहीं चौंके।" शायद यह छापाखाने के भूतों की लीला हो। इसलिए लिंग-परिवर्तन का दूसरा उदाहरण लीजिए। आगरेवाली प्रति के १२६वें पन्ने में माढव्य की यह उक्ति है—"जहाँ मणि-जटित पटिया बिछी है यही माधवी कुंज है। निस्संदेह यह ऐसी

दीखती है, मानो मनोहर फूलों की भेंट लिए हमें आदर देती है। चलो, यहीं बैठें।" यहाँ 'कुंज'-शब्द की ओर आप लोगों का ध्यान आकृष्ट करता हूँ। इसे राजा साहब ने स्त्रीलिंग में प्रयोग किया है। अब दूसरी प्रति खोलिए। उसके ७८वें पन्ने में वही माढव्य कहता है—"यह माधवी कुंज, जिसमें मणि-जटित पटिया बिछी है, यद्यपि निर्जीव है तो भी ऐसा दिखाई देता है, मानो आपका आदर करता है। आओ, चलकर बैठें।"

अच्छा, 'आहट' सुन अभी मत चौंकिए। आइए 'कुंज' की ओर। देखिए, यहाँ क्या गुल खिलते हैं। चतुर्थ संमेलन के सभापति, हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि पं० श्रीधर पाठक भी आगरा-वासी हैं। वह अपने 'ऊजड़ गाँव' में कहते हैं—

"प्यारी-प्यारी वे मल्लक हरियाली कुंजें।
सोभा-छवि-आनंद-भरी सब सुख की पुंजें।"

'जगत-सचाई-सार' में भी पाठकजी ने 'कुंज' को स्त्रीलिंग लिखा है। यथा—

"ये नदियाँ, ये झील-सरोवर, कमलों पर भौंरों की गुंज;
बड़े सुरीले बोलों से अनमोल, घनी वृक्षों की कुंज।"

इससे सिद्ध होता है कि आगरे की ओर 'कुंज'-शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है और काशी-प्रयाग में पुंलिंग। शायद इसी से संपादक ने 'कुंज' और 'आहट' का लिंग-परिवर्तन कर राजा साहब की इसलाह कर दी है।

कुछ लोग 'गेंद' को पुंलिंग लिखते हैं; पर यह स्त्रीलिंग है। यथा—

"स्याम मोहिं चोरी लगाई।
खेलत गेंद गिरी जमुना में, तू मेरी गेंद छिपाई।"

उर्दूवाले भी गेंद को स्त्रीलिंग ही मानते हैं। जैसे—

"हाथ में गेंद उठा तुमने उछाली बेढब।"

इसी तरह 'आत्मा' के स्त्रीलिंग होने का प्रमाण भी दादू-दयाल की विनती में मिलती है—

"तन-मन निर्मल आत्मा, सब काहू की होय,
दादू विषय-विकार की बात न बूझे कोय।"

अब तीसरा नियम लीजिए। 'इया'-प्रत्ययांत-शब्द स्त्रीलिंग होते हैं। यथा चिड़िया, फुड़िया आदि। अब वजन पर लिंग बनानेवालों ने 'चिड़िया' के वजन पर 'तकिया' और 'पहिया' को भी स्त्रीलिंग बना डाला, हालाँकि इनमें 'इया' प्रत्यय नहीं है। स्वर्गवासी पंडित केशवराम भट्ट ने अपने व्याकरण में साफ लिखा है—"आकारांत संज्ञाएँ पुंलिंग होती हैं। जैसे—तकिया, पहिया आदि।" मैं समझता हूँ, लिंग-प्रकरण के स्थिर नियम सिद्ध करने के लिए ये उदाहरण अलम् होंगे।

एक लेखक कहते हैं—"जहाँ तक कोई नपुंसक लिंग वाला प्रयोग स्पष्ट और निर्विवाद रूप से अशुद्ध न ठहर जावे वहाँ तक उसमें लिंग-भेद-विषयक अशुद्धियाँ स्थापित न करनी चाहिए, क्योंकि वास्तव में निर्जीव पदार्थ न पुंलिंग हैं और न स्त्रीलिंग।" वास्तव में बात ऐसी ही है। कोई समझदार इसका खंडन न करेगा। निर्जीव पदार्थ न पुंलिंग हैं, न स्त्रीलिंग और न नपुंसक ही हैं। उन्हें किसी लिंग में मान लेना सचमुच सरासर अन्याय है। पर लाचारी है। यह हमारा आपका शरीर वास्तव में नाशवान् है—यह जगत् वास्तव में अनित्य और असत्य है; पर तो भी हम संसार के सब काम करते ही हैं।

जो अँगरेजी-भाषा आजकल गंगाजल से धोई-पखारी बड़ी पवित्र समझी जाती है, वह भी इसका शौक करती है। अँगरेजी में जहाज (शिप), चंद्रमा (मून), रेलगाड़ी

१३

(ट्रेन) और देश (कंट्री) आदि शब्द स्त्रीलिंग हैं, और सूर्य पुंलिंग है। क्यों? क्या यह सजीव हैं? हम हिंदू तो सूर्य-चंद्र को भला सजीव मानते भी हैं; पर योरपवाले नहीं मानते। फिर सूर्य पुरुष और चंद्रमा नारी क्यों? अँगरेजी के असीम अनुग्रह से ही हमारा प्यारा भारतवर्ष आज भारतमाता बन गया है।

अप्राणिवाचक शब्दों का लिंग-निर्माण उनके गुणानुसार होता है। मधुरता, कोमलता, मनोहरता, सुकुमारता, निकृष्टता, हीनता, लघुता, दुर्बलता आदि गुणवाली वस्तुएँ स्त्रीलिंग और कठोरता, उग्रता, दृढ़ता, सहनशीलता, उत्कृष्टता आदि गुणवाले पदार्थ पुंलिंग कहलाते हैं।

मेरे इस कथन की पुष्टि 'भारतमित्र'-संपादक पं० अंबिका-प्रसाद वाजपेयी-कृत 'हिंदी-कौमुदी'-नामक व्याकरण से होती है, जिसमें लिखा है—"अप्राणिवाचक शब्दों के स्त्रीलिंग से हीनता या छुटाई का भाव निकलता है।"

पर अँगरेजी की गवाही बिना आजकल पक्ष पुष्ट नहीं होता। इसलिए ढूँढ़-ढाँढ़कर अँगरेज गवाह लाया हूँ। अँगरेज भी कैसा? खासा सिविलियन। इनका नाम है मिस्टर जॉन बीम्स, यह अपने कंपरेटिव ग्रामर 'तुलनात्मक व्याकरण' में कहते हैं—बड़ी, मजबूत, भारी और मोटी चीजें पुंलिंग; छोटी, कमजोर, हलकी तथा पतली चीजें स्त्रीलिंग, और सुस्त, ढीली तथा तुच्छ वस्तुएँ क्लीवलिंग समझी जाती हैं। आनन्द की बात है, हिंदी में क्लीवता को स्थान नहीं मिला। इसलिए इस बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

हिंदी के राष्ट्रभाषा होने में लिंग बाधा डालते हैं या नहीं, यह अभी विचारणीय नहीं है। अभी तो यह विचारना है कि लिंग के प्रयोग में इतनी विभिन्नता क्यों है और उसके सुधार

का क्या उपाय है ? साथ ही यह भी निवेदन कर देना अनुचित न होगा कि मैं अंग-भंग कर हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के पक्ष में नहीं—"वा सोने को बारिए, जासों टूटे कान।" मैं वैसा सोना नहीं चाहता जिससे कान टूटें। मैं हिंदी की वैसी उन्नति नहीं चाहता जिससे उसकी स्वाभाविकता नष्ट हो ! इसके सिवा हिंदी अपनी सरलता और व्यापकता के कारण स्वयं ही राष्ट्रभाषा बन गई है और बनती चली जा रही है।

बाकी रही लिंग के प्रयोग की कठिनता, वह शिक्षा और अभ्यास से दूर हो सकती है। अँगरेजी-जैसी कठिन और दुरूह भाषा हम सीख लेते हैं, जिसमें अक्षरों का अभाव, वर्ण-विन्यास का व्यतिक्रम और उच्चारण की उच्छृंखलता है। नियम का तो वहाँ नियम ही नहीं है। लिखा जाय प्साल्म और पढ़ा जाय 'साम'। ऐसे ही देअर और हीअर सर्किल में 'सी' क और स दोनों का काम करती है। इसके सिवा जहाँ रनिंग वाटर माने बहता पानी और वाकिंग स्टिक माने 'टहलती हुई छड़ी' न होकर 'टहलने की छड़ी' होता है वहाँ के गड़बड़-झाले का क्या ठिकाना है। जब इस भाषा को हम केवल सीख ही नहीं, अँगरेजों की तरह ठीक बोल और लिखकर गौरव प्राप्त कर सकते हैं, तो हिंदी का लिंग-ज्ञान कौन बड़ी बात है ! आखिर यह भारत की भाषा है और संस्कृत से निकली है। इसके सीखने में देर न लगेगी। जरा ध्यान देने से ही हिंदी का लिंग-प्रकरण सहज हो जायगा।

हिंदी के लिंग पर लोगों की इतनी कड़ी नजर क्यों है ? इसलिए कि कुछ पंडिताभिमानी अहंमन्य लेखकों ने इसका दुरुपयोग किया है और कर रहे हैं। मनमाने तौर से लिंग का

प्रयोग हो रहा है। इसका कारण हिंदी-शिक्षा और समालोचना का अभाव है। अगर सीखकर लोग हिंदी लिखें तो ऐसी गड़-बड़ न हो। कोई तो अँगरेजी के सहारे हिंदी का सुलेखक बन जाता है और कोई संस्कृत के। कुछ करीमा-मामकीमा पढ़कर और कुछ बिना पढ़े ही हिंदी के सुलेखक तथा सुकवि बन बैठते हैं। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि ये लोग हिंदी न लिखें। जरूर लिखें। मैं इसके लिए इनसे विनीत प्रार्थना करता हूँ। पर सीखकर लिखें। यदि सीखकर लिखते तो हिंदी के लिंग की आज यह दुर्दशा न होती। हमारे संस्कृत के पंडितजी महाराज 'आत्मा' को कभी साड़ी न पहनाएँगे, क्योंकि उसके सिर पर संस्कृत-प्रणाली से पगड़ बाँधते आए हैं। लाख समझाने पर भी वह अपना अभ्यास न छोड़ेंगे। हिंदीवाले तो 'आत्मा' को स्त्रीलिंग लिखेंगे, पर पंडितजी 'आत्मा' को स्त्रीलिंग बनाना अपनी आत्मा के विरुद्ध मानते हैं। इसी तरह 'स्वाहा' के रहते पंडितजी 'अग्नि' को कभी स्त्रीलिंग न मानेंगे और न 'देवता' का वह पुंलिंग ही; क्योंकि संस्कृत में 'अग्नि' पुंलिंग, और 'देवता' स्त्रीलिंग है। इसी तरह वायु, महिमा, अंजली, तान, शपथ, धातु, देह, जय, मृत्यु, संतान, समाज, ऋतु, राशि, विधि आदि शब्दों में झगड़ा है, क्योंकि संस्कृत में ये पुंलिंग हैं, पर हिंदी में स्त्रीलिंग। हिंदी लिखने के समय इनका प्रयोग हिंदी के अनुसार ही होना उचित है।

अब उर्दूवालों की लीला सुनिए। वे 'धरमसाले' में 'पाठ-साले' का 'चर्चा' कर 'मोहनमाले' से अपना 'मान-मर्यादा' बढ़ाते हैं, पर हिंदीवाले ऐसा नहीं करते। वे बहुत करेंगे तो अपनी 'कबीला' की 'हुलिया' अपनी 'तायफा' को बता 'उम्दी धोती' न दे 'बेहूदी बातें' बक 'ताजी खबरें' सुनाएँगे। कहने का तात्पर्य यह

कि हिंदी में धर्मशाला, पाठशाला, चर्चा, माला, मर्यादा आदि शब्द स्त्रीलिंग हैं, पर उर्दूवालों ने इन्हें पुंलिंग बना दिया है। इसी तरह कबीला, हुलिया, तायफा पुंलिंग हैं, पर हिंदी के रँगरूटों ने इन्हें स्त्रीलिंग कर डाला है। उम्दा, बेहूदा, ताजा वगैरह लफ्ज स्त्रीलिंग के लिए कभी उम्दी, बेहूदी, ताजी नहीं बनते। इनका रूप सदा एक-सा रहता है।

हिंदी के लिंग-विभाग पर प्रायः सभी प्रांतवाले कुछ-न-कुछ अत्याचार करते हैं, पर बदनाम हैं बेचारे बिहारी-बंधु ही। इसका कारण समझ में न आया। अगर बिहार में 'हाथी बिहार करती है' तो पंजाब से 'तारें आती' हैं, और युक्तप्रांत के काशी-प्रयाग में लोग 'अच्छी शिकारें मारकर लंबी सलामें' करते हैं। अगर बिहार में 'दही खट्टी' होती है तो मारवाड़ में 'बुखार चढ़ती है', 'जनेऊ उतरता है' और कानपुर में 'बूँद गिरता' और 'रामायण पढ़ा जाता' है। बिहार में 'हवा चलता' है तो झालरापाटन में 'नाक कटता है' और मुरादाबाद में गोलमाल मचती है। फिर बिहार ही क्यों बदनाम है?

कुछ गड़बड़ कोषकारों ने भी की है। पादड़ी क्रेवन अपनी 'रॉयल डिक्शनरी' में 'अफवाह' और 'भूख' को पुंलिंग लिखते हैं। अँगरेजों की बात जाने दीजिए। हमारे हिंदीवाले भी 'तथैव च' हैं। किसी ने संस्कृत-लिंग का सहारा लिया और किसी ने उर्दू-फारसी का। कुछ ने तो दोनों की खिचड़ी पकाई है। हिंदी का माननीय कोष एक भी नहीं, जिसके भरोसे हिंदी का लिंग ठीक हो सके।

सबसे बढ़कर हैं वजन पर लिंग बनानेवाले। उनका कहना है कि जब 'बंदूक' स्त्रीलिंग है, तो 'संदूक' को भी स्त्रीलिंग होना चाहिए, क्योंकि इन दोनों का वजन याने तुक एक है। इसी तरह

मकान के वजन पर दूकान को पुंलिंग या दूकान के वजन पर मकान को स्त्रीलिंग होना चाहिए।

हिंदी के सुलेखक कहलानेवाले एक सज्जन ने संदूक को दोनों लिंगों में व्यवहार किया था। मैंने इसका कारण पूछा तो बोले—"जिस समय बड़े संदूक का खयाल आ गया पुंलिंग लिखा और छोटे संदूक का खयाल आया तो स्त्रीलिंग लिखा।" यह माकूल जवाब सुन मैं चुप हो रहा, और कुछ पूछने की हिम्मत न पड़ी।

समास और संधि-युक्त पदों के लिंग में भी लोग गड़बड़ करने लगे हैं। ऐसे स्थानों में उत्तर शब्द के अनुसार ही समस्त पद का लिंग होता है। जैसे—इच्छानुसार, ईश्वरेच्छा। यहाँ 'अनुसार' अंत में है, इसलिए 'इच्छा' के रहते भी इच्छानुसार पुंलिंग है और ईश्वरेच्छा में 'इच्छा' अंत में है, इसलिए यह स्त्रीलिंग है। इसी नियम के अनुसार चाल-चलन और चाल-व्योहार भी पुंलिंग हैं पर केलॉग साहब ने इन्हें स्त्रीलिंग बताया है। यह उनकी भूल है।

'भली भाँति' की जगह 'भली प्रकार' और 'अच्छी तरह' की जगह 'अच्छी तौर' से लिखने की चाल चली है, पर यह तौर अच्छा नहीं और न प्रकार ही भला है।

संस्कृत के कुछ प्रेमी हिंदी में भी अपने संस्कृत-प्रेम का परिचय दे हिंदी को असंस्कृत कर रहे हैं। वे 'शृंगार-संबंधिनी चेष्टा', 'उपयोगिनी पुस्तकें', 'कार्यकारिणी सरकार', 'परोपकारिणी वृत्ति', 'प्रभावशालिनी वक्तृता', 'मनोहारिणी कविता' ही नहीं, 'प्रबला स्त्री' का भी प्रयोग करने लगे हैं। अब 'भविष्यत् पत्नी' और 'भावी पत्नी' के स्थान पर 'भविष्यंती पत्नी' और 'भाविनी पत्नी' के भी दर्शन होंगे। फिर 'सुंदरा कन्या' 'पवित्रा पाठशाला' में 'विदुषी व्यक्तियों' से 'संस्कृता भाषा' पढ़ेगी। इधर 'स्थायी

समिति' 'अभागी हिंदी' की 'शोचनीय स्थिति' देख 'स्वतंत्रता-वादी महिला' की भाँति 'प्रभावशाली देवता' से प्रार्थना कर रही है। इससे हिंदी बोलनेवाली व्यक्तियाँ, हस्तिनी शंखिनी के साथ कहीं 'कुलिनी', 'पुरुषिनी' न बन जायँ।

भ्रम, भल, हठ, दुराग्रह, प्रांतीयता चाहे जिस कारण से हो, हिंदी में उभयलिंगी शब्दों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जाती है। यह हिंदी के लिए हानिकारक है। यदि यही दशा रही तो अन-र्गलता बढ़ जायगी। इसलिए मेरी राय है कि एक समिति बना ली जाय जो समाज, पुस्तक, साँस, आत्मा, हठ, सामर्थ्य, प्रलय, यज्ञ, पीतल, कुशल आदि शब्दों का लिंग-निर्णय कर दे, और वही शुद्ध माना जाय।

प्रांतीयता का प्रेम छोड़कर दिल्ली-मथुरा-आगरे के प्रयोगों का अनुकरण सबको करना चाहिए, क्योंकि मेरी समझ से यहीं के प्रयोग शुद्ध और माननीय हैं। और प्रांतों के प्रयोग इनके, प्रयोग के सामने कट जायँगे, क्योंकि हिंदी की जन्मभूमि यहीं है और यहीं के निवासी अहलेजबाँ हैं। दिल्ली, मथुरा, आगरा इन तीनों में मत-भेद हो, तो आगरे को प्रधानता देनी चाहिए, क्योंकि हिंदी के प्राचीन और नवीन कवि अधिकांश आगरे या आगरे के आस-पास हुए हैं। शुद्ध अँगरेजी सीखने के लिए जैसे हम अँगरेजों के बनाए ग्रंथ पढ़ते और उनके मुँह की ओर देखा करते हैं, वैसे ही शुद्ध लिंगप्रयोग सीखनेवालों को दिल्ली-आगरा-मथुरावालों के मुँह की ओर देखना चाहिए, और प्राचीन कवि और लेखकों के ग्रंथ पढ़ने चाहिए। लिंग-सुधार का यही अच्छा और सरल उपाय है।

उन्नीसवीं सुरभि—

(श्री रघुवीर सिंह)

प्रत्यक्ष जीवन की अनुभूति से अतीत की स्मृति में विशेष मादकता होती है, प्रत्यक्ष से परोक्ष में विशेष आकर्षण होता है। एक के लिए चर्म-चक्षु खुले होने चाहिए और दूसरे के लिए मर्म-चक्षु। अतीत इतिवृत्त का— और गौरवपूर्ण या वैभवसंपन्न अतीत के इतिवृत्त का—चुंबक लोहे के हृदय को भी खींच लेता है। इन्हीं मनमोहक अतीत स्मृतियों का दृश्य-चित्रण लेखक ने अपने निबंधों में किया है। अपनी अंतःसत्ता को अवशेषों के अंतराल में प्रविष्ट करके, उनकी धूलि में लिटाकर, विभूति का सौंदर्य-दर्शन किया है। वर्ण की भिन्नता भी साम्राज्य के यौवन एवं वृद्धता की परिचायिका इसी से प्रतीत हुई है। ऐतिहासिक कथा-खंडों में भावात्मक सत्ता का अंतःप्रवेश कराने में यही लेखक समर्थ हो सका है। शैली का संघटन, भाषा का प्रवाह और वर्ण्यविषय के चुनाव के वैशिष्ट्य ने इन्हें सबसे पृथक् खड़ा कर रखा है। भावात्मक शैली में दो प्रकार के निबंध देखे जाते हैं। एक वे जिनमें अभिव्यक्ति की ही प्रधानता होती है, विषय कुछ नहीं या सामान्य होता है। दूसरे वे जिनमें अभिव्यक्ति और विषय की तुल्यता होती है। इनके निबंध दूसरी श्रेणी में आएँगे।

फतहपुर सीकरी

यौवन-मदिरा को पीकर मस्त हुआ अकवर राज्यश्री को प्राप्त कर अधिक उन्मत्त हो गया। आँखों में नशे की लाली छा गई। इतने दिनों के घोर परिश्रम तथा अपने कठिन जीवन के बाद अपनी प्रेमिका राज्यश्री को पाकर अकवर को ऐश्वर्य-विलास की सूझी। वह ढूँढ़ने लगा एक ऐसे अज्ञात, निर्जन स्थान को जहाँ वह अपनी उठती हुई उमंगों और बढ़ती हुई कामनाओं को स्वच्छंद कर सके।

अकवर का हृदय एक मानव युवा का हृदय था। प्रारंभिक दिनों की तपस्या उसकी उमड़ती हुई उमंगों को नहीं दवा सकी थी। विलास-वासना की अग्नि अब भी अकवर के हृदय में जल रही थी, केवल उसकी ऊपरी सतह पर संयम की श्वेत राख चढ़ गई थी। परंतु राज्यश्री की प्रेम-मदिरा ने उस अग्नि को पूर्ण प्रज्वलित कर दिया। धू-धू करके वह जल उठी। अकवर इस ज्वाला को नहीं सह सका। उसका रहा-सहा संयम भी इस भीषण अग्नि में जलकर भस्म हो गया। पतंगे की नाईं अकवर विलास की दीपशिखा के आस-पास मँड़राने लगा!

महान् साम्राज्य की सत्ता तथा सफलता के अनुकूल वातावरण में अकबर पर खूब गहरा नशा छाया। नशे में चूर राज्यश्री का प्यारा अकबर इस भौतिक संसार को छोड़कर स्वप्न-संसार में विचरने लगा। राज्यश्री के हाथों, युवा अकबर ने खूब छककर मदिरा पी थी। अब बेहोश होकर

राज्यश्री की गोद में पड़ा, एक स्वप्न देखने लगा। वह स्वप्न क्या था, भारतीय कला के इतिहास की एक महान् घटना थी, मध्यकालीन भारतीय गगन का एक देदीप्यमान धूमकेतु था। वह स्वप्न धूमकेतु की नाईं आया और उसी की तरह एकाएक अदृश्य हो गया। वह विलीन हो गया, किंतु संसार में अपनी अमिट स्मृति छोड़ गया। जगत् के भूतल-पृष्ठ पर आज भी उस स्वप्न की स्मृतियाँ यत्र-तत्र अंकित हैं। ये स्मृतियाँ इतनी सुंदर हैं, उनका रहा-सहा छिन्न-भिन्न जर्जरित स्वरूप इतना हृदयग्राही है कि उनको देखकर ही मनुष्य का मस्तिष्क घूमने लगता है और कल्पना-शक्ति के सहारे उन परित्यक्त खँडहरों के पुरातन-प्राचीन वैभवपूर्ण दिनों की सैर करने को दौड़ पड़ता है। जब इन भग्न अवशेषों का, इन स्मृतियों का स्वरूप ही इतना आकर्षक है, तो वह स्वप्न कितना मनोरंजक, सुंदर तथा मादक रहा होगा, उसका पता मानवी कल्पना नहीं लगा सकती।

उस सुखद स्वप्न का वर्णन करना, उसको चित्रित करना एक कठिन समस्या है। उस स्वप्न की स्मृतियाँ इतनी थोड़ी हैं उन दिनों की याद दिलानेवाली सामग्री का इतना अभाव है कि रही-सही सामग्री पर समस्त स्वप्न का विशाल-भवन-निर्माण एक असंभव बात है। आधुनिक लेखक तो क्या, उस स्वप्न के दर्शक भी उसका पूरा पूरा जीता-जागता वृत्तांत नहीं लिख सके। जिस किसी ने वह स्वप्न देखा, उसे ऐश्वर्य और विलासिता के उस उन्मादक दृश्य ने उन्मत्त कर दिया। वह आश्चर्य-चकित हो, विस्फारित नेत्रों से देखता रहा—एकटक देखता रहा। और जब नशा उतरा, कुछ होश आया, तो नशे की खुमारी के कारण लेखक की लेखनी में वह

चंचलता, मादकता तथा स्फूर्ति न थी, जिनके बिना वर्णन में आकर्षण नहीं रहता।

× × × ×

स्वप्न था। मादकता की लहर थी। जोरों से नशा चढ़ रहा था। ऐश्वर्य-विलास के भयंकर प्रवाह में अकबर बहा जा रहा था। अकबर एकबारगी स्वप्न-संसार में विचरण करने लगा। राज्यश्री की गोद में पड़ा था, उसे किस बात की कमी प्रतीत होती! फिर भी एक बात उसे खलती थी। अपनी गोद सूनी देखकर उसे स्वभावतः दुःख होता था। अपने कई प्यारे-प्यारे बच्चों को मृत्यु-द्वारा छीने जाते देखकर उसका हृदय विकल हो उठता था। क्रूर काल तथा अदृश्य भाग्य से चिढ़कर वह अपना सिर पीट लेता था, अपनी विवशता पर उसे क्रोध आता और वही क्रोध पानी बनकर आँखों की राह बह जाता था।

तालाब लहलहा रहा था। उसके पूर्वी किनारे पर एक पहाड़ी पर बैठे, संसार से विरक्त एक साधु ईश्वर-भक्ति में लीन अपने दिन बिता रहे थे। अकबर ने सोचा, चलो कुछ पुण्य इकट्ठा करें, ईश्वर की ही दो विरोधिनी शक्तियों को आपस में लड़ाकर उससे कुछ लाभ उठाएँ। दुर्भाग्य तथा क्रूर काल का सामना करने के लिए उसने पुण्य को अपनी ओर मिलाने का इरादा किया, अपने विगत जीवन में एकत्रित पुण्य पर विश्वास न कर वह दूसरों द्वारा संचित पुण्य की भीख माँगने के लिए रवाना हुआ।

एक अद्भुत दृश्य था। जो अकबर सहस्रों साधुओं को राजा बना सकता था वही आज एक अर्ध-नग्न साधु के पास अपना अंचल फैलाए आया। राज्यश्री के लाड़ले अकबर ने

उसके संमुख- सिर झुकाया। तपस्या के चरणों में राज्यश्री ने साष्टांग प्रणाम किया।

जिस तपस्या ने सांसारिक जीवन छुड़वाया, भौतिक सुखों तथा ऐश्वर्य-विलास की जिसने बलि दिलाई, उसी तपस्या ने अपना संचित पुण्य भी लुटा दिया। अकबर को मुँहमाँगा वरदान मिला। यथेष्ट भिक्षा पाकर अकबर लौट गया। शीघ्र ही सलीम का जन्म हुआ। काल की एक न चली। पुण्य के अभेद्य कवच को उसके पैने तीर भी न भेद सके।

× × × ×

अकबर ने पुण्य की शक्ति देखी। परंतु वह इस बात को नहीं समझ पाया कि यह पुण्य का फल था। उसने उस स्थान को पवित्र समझा। अकबर ने सोचा कि क्यों न मैं इस पवित्र स्थान में निवास करके पुण्य तथा राज्यश्री दोनों की सहायता से अपनी समस्त वांछाओं को पूर्ण करूँ?

अब अकबर को एक नई धुन सवार हुई। वह सोचने लगा कि उस पवित्र स्थान में एक नया शहर बसावें, एक ऐसी सुंदर नगरी निर्माण करें जहाँ ऐश्वर्य-विलास की समस्त वस्तुएँ हों और जो अपनी सुंदरता तथा वैभव में अद्वितीय हो। मादकता की यह लहर थी। स्वप्न-संसार में विचरते हुए अकबर के मस्तिष्क की एक सनक थी। राज्यश्री के प्रेमी अकबर ने अपनी इच्छापूर्ति के लिए राज्यश्री का आह्वान किया। अलादीन के अद्भुत दीपक के भूत की तरह राज्यश्री ने भी अकबर की इच्छा को शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण करने का प्रण किया।

जैसे जादूगर अपनी छड़ी घुमाता जाता है और धीरे-धीरे आम का पौदा बढ़ता जाता है, वैसे ही जहाँ एक बीहड़

वन था, वहाँ एक नगरी उठने लगी। नगरी की लाली उन्मत्त अकबर की आँखों की लाली थी। उन्मत्त अकबर के हाथों से यौवन-मदिरा का प्याला छलक पड़ा; कुछ मदिरा ढलक गई और इन्हीं कुछ बूँदों ने सारी नगरी को अपने रंग में रँग दिया। जहाँ विषम पहाड़ियाँ थीं वहाँ सुंदर भवन दिखाई देने लगे।

सारा नगर लाल है। मुगल-साम्राज्य के यौवन की लाली आज भी इन छिन्न-भिन्न स्थानों में दिखाई देती है। अनंत-यौवना राज्यश्री ने इस नगरी का अभिषेक किया था। यही कारण है कि आज भी यौवन की लाली ने इन पत्थरों का साथ नहीं छोड़ा। यद्यपि मुगल-साम्राज्य के प्रारंभिक दिनों का यौवन समय के साथ नष्ट हो गया, तथापि उन दिनों की सुध आज भी उन रक्तवर्ण महलों को देखकर आ जाती है। ज्यों-ज्यों मुगल-साम्राज्य का यह यौवन-मद उतरता गया, त्यों-त्यों लाली के स्थान पर सफेदी का दौर-दौरा हुआ। मुगल-साम्राज्य के बुढ़ापे के द्योतक श्वेत केश प्रथम बार शाहजहाँ के शासनकाल में दिखाई दिए। दिल्ली के किले श्वेत महल तथा आगरे का प्रसिद्ध ताजमहल मुगल-साम्राज्य के ढलकते हुए यौवन में निकले हुए कुछ श्वेत केश हैं।

पानी की तरह धन बहा। धन से सींचे जाने पर ऊसर भूमि में भी अंकुर फूटा। विधवा-सी वेष-भूषावाली उजाड़ पहाड़ियों का सधवापन लौट आया। पाषाण-हृदय भी पिघल पड़ा। राज्यश्री ने अपनी जादू की लकड़ी घुमाई और उन ऊसर उजाड़ पहाड़ियों में धीरे धीरे सुंदर लाल महलों का एक उद्यान दिखाई देने लगा। एक सुंदर सुगठित श्वेत पुष्प भी निकला। यों उस स्वच्छंद युवा सम्राट् ने उन्मत्त

होकर अपनी कामनाओं को उद्दाम कर दिया। उसकी विलास-वासना भीषण तांडव करने लगी। अपने सुख-स्वप्न को सच्चा कर दिखाने के लिए सम्राट् ने कुछ भी उठा नहीं रखा और इस तरह संसार की और विशेषतः भारत की कला का ऐसा अद्वितीय दृश्य दिखाया, जिसके भग्नावशेष की स्मृतियों को देखकर आज भी संसार अघाता नहीं है।

वह स्वप्न था, और उस स्वप्न में उस स्वप्नलोक की रचना हुई थी। स्वप्न के अंत होने के साथ ही उस लोक का भी पतन हुआ। परंतु आज भी उसकी कुछ स्मृतियाँ विद्यमान हैं। आओ, कुछ समय के लिए विस्मृति की मदिरा का पान करें और इस भग्नावशेष में घूम-घूमकर उस स्वप्नलोक में विचरें। विस्मृति-मदिरा का पान कर कल्पना-शक्ति में इतनी शक्ति अवश्य आ जायगी कि वह हमें उस सुदूर लोक में पहुँचा दे।

आओ, कुछ सैर करें उस लोक की जहाँ राज-मद की ढलकी हुई बूँदों ने सुंदर स्वरूप ग्रहण किया, जहाँ प्रथम बार मुगल-साम्राज्य का यौवन फूटा, और जहाँ मुगल-साम्राज्य तथा मुस्लिम सभ्यता ने भारतीय सभ्यता पर विजय प्राप्त करने का उपक्रम किया। यही वह लोक है जहाँ एक बढ़ते हुए साम्राज्य तथा नवयुवा सम्राट् की वासना को तृप्त करने के लिए राज्यश्री इठलाती थी। यहीं अकबर के हृदय की विशालता पर मुग्ध होकर समस्त भारत ने एक बार उसके चरणों में श्रद्धांजलि अर्पण की थी, जिसे अकबर ने सप्रेम ग्रहण किया था। इस प्रेम का परिचय भारतीय सभ्यता के सूचक उन आभूषणों से मिलता है जिनसे उसने इस नव-जात शिशु नगरी का शृंगार किया।

हृदय पर पत्थर रखकर, उसकी आधुनिक दशा को भूलकर चलो उस लोक में, उस काल में, जब सीकरी भारत का प्रधान शहर था, जब उसको सजाने में ही भारत-सम्राट् रत थे, तथा उस शृंगार में अपनी सारी योग्यता, अपना समस्त धन वे व्यय कर रहे थे। यह वह समय था; जिसमें जन्म लेते ही इस नवीन संसार पर समस्त संसार मुग्ध हो गया, और उसको भेंट करने के लिए अपनी उत्तमोत्तम वस्तुओं को लेकर दौड़ पड़ा।

उस शहर में घूम लो और उन पंद्रह वर्षों का बहुत कुछ इतिहास उस समय के महान्-महान् व्यक्तियों का बहुत कुछ पता तुम्हें लग जायगा। अकबर पर राजमद चढ़ा था, किंतु फिर भी वह अपने साथियों, मित्रों को नहीं भूला था। वह ऐश्वर्य और विलासिता के सागर में गोता लगाने को उतरा, किंतु साथ ही अपने मित्रों को भी ले गया। सीकरी अकबर की ही नहीं, किंतु तत्कालीन भारत की एक स्मृति है!

× × × ×

संसार का सबसे बड़ा विजयतोरण, वह बुलंद-दरवाजा छाती निकाले दक्षिण की ओर देख रहा है। उसने उन मुगल-योद्धाओं को देखा था, जो सर्वप्रथम मुगल-साम्राज्य के विस्तार के लिए दक्षिण की ओर बढ़े थे। उसने विद्रोही औरंगजेब की उमड़ती हुई सेना को देखा होगा, और पास ही पराजित दारा के स्वरूप में अकबर के आदर्शों के पतन को भी देखा होगा। अंतिम मुगलों की सेनाएँ भी इसी के सामने होकर निकली होंगी—वे सेनाएँ जिनमें वेश्याएँ तथा स्त्रियाँ भी रणक्षेत्र पर जाती थीं, और रणक्षेत्र को भी विलास-भूमि में परिणत कर देती थीं। यदि आज इस दरवाजे के जिह्वा हो जाय और

यदि वह अपने पुराने संस्मरण कहने लगे, तो न जाने भारत का कितना अज्ञात इतिहास ज्ञात हो जाय और न जाने कितनी गलतियाँ दुरुस्त की जा सकें।

यह दरवाजा एक विजयतोरण है, खानदेश की विजय का स्मारक है। किंतु यदि देखा जाय तो एक तरह से यह अकबर द्वारा भारतीय सभ्यता पर प्राप्त की विजय का एक महान् स्मारक है। अकबर ने अपने हृदय की विशालता को उस दरवाजे की विशालता में दर्शाया—

"यह संसार पुलिया है, उसके ऊपर से निकल जा। किंतु इस पर घर बनाने का विचार मन में न ला। जो यहाँ एक घंटा ठहरने का इरादा करता है, वह चिरकाल तक ठहरने का इच्छुक होगा। सांसारिक जीवन घड़ी भर का है। उसे ईश्वर-स्मरण तथा भगवद्भक्ति में बिता। ईश्वरोपासना के अतिरिक्त सब कुछ व्यर्थ है, सब कुछ असार है।"

सांसारिक जीवन की असारता-संबंधी इन पंक्तियों को एक विजयतोरण पर अंकित देखकर कुतूहल होता है। अकबर मानवीय जीवन की खोज लगाने तथा दो विभिन्न सभ्यताओं का संमिश्रण करने निकला था, किंतु वह वास्तविक वस्तु तक नहीं पहुँच सका। वह इनको ढूँढ़ने निकला था और मृगतृष्णा के जल की नाईं इन्हें भी खोजता रहा; किंतु इनका कहीं भी पता नहीं लगा। भोले-भाले बच्चे की तरह उसने हाथ फैलाकर कुछ उठा लिया। सोचता था, उसे वह रहस्य, वह इष्ट वस्तु मिल गई; किंतु जिसे उसने रत्न समझा था, वह काँच का टुकड़ा था। अपने जीवन-भर वह यही सोचता रहा कि उसे इच्छित रत्न मिल गया।

अपने जीवन-भर अकबर भारतीय तथा मुस्लिम सभ्यता के संमिश्रण का स्वप्न देखता रहा। एक सुखद स्वप्न था। अतः जब अकबर के इस मानव-जीवन-स्वप्न का अंत हुआ, तब सभ्यता की वह विजय नष्ट हो गई और वह संमिश्रण केवल स्वप्नवार्ता रह गई। बुलंद-दरवाजा उसी सुखद स्वप्न की एक स्मृति है, इसी कारण हम इसे विजयतोरण न कहकर "स्वप्न स्मारक" कहेंगे। उस दरवाजे में होकर, उस स्वप्न की याद करते हुए हम एक आकार में जा पहुँचते हैं। सामने ही दिखाई पड़ती है एक सुंदर श्वेत कब्र! यह उस साधु की कब्र है, जिसने अपने पुण्य को देकर, मुगल-घराने को नष्ट होने से बचाया था। अपनी सुंदरता के लिए, अपनी कला के लिए यह अनुपम वस्तु है। प्रतिवर्ष समस्त उत्तरीय भारत के हिंदू-मुसलमान आदि भिन्न भिन्न धर्मानुयायी इस कब्र पर खिंचे चले आते हैं; सोचते हैं कि जिस व्यक्ति ने जीते जी अकबर को भिक्षा दी क्या उसी व्यक्ति की आत्मा स्वर्ग में बैठी उनकी इच्छाएँ पूर्ण न कर सकेगी।

इस कब्र से चलें उस मसजिद में, जो यद्यपि पूर्णतः मुस्लिम ढंग की है और यद्यपि अपनी सुंदरता के लिए बहुत प्रसिद्ध नहीं है, फिर भी एक ऐसी विशेषता के लिए वह प्रख्यात है जो दूसरे स्थान को प्राप्त नहीं हुई। इसी मसजिद ने एक भारतीय मुस्लिम सम्राट् को उपदेशक के स्थान पर प्रार्थना करते देखा। भारतीय मुस्लिम साम्राज्य के इतिहास में यह एक अनोखी अद्वितीय घटना थी, और यह घटना इसी मसजिद में घटी थी।

अकबर को सूझी थी कि इस्लामधर्म की असहिष्णुता को मिटा दे; उसकी कठोरता को भारतीय सहिष्णुता की

सहायता से कम कर दे। उसे सूझी कि प्रारंभिक खलीफाओं के समान वह स्वयं धर्माधिकारी के उच्चासन पर खड़ा होकर धर्मप्रचार करे। उसके साथी, अबुलफजल और फैजी ने उसके आदर्श को सराहा। एक दिन इस मसजिद में तैयारियाँ की गईं और एक दिन पूर्ण उत्साह के साथ आसन पर चढ़कर अकबर प्रार्थना करने लगा—

"उस जगत्पिता ने मुझे साम्राज्य दिया। उसने मुझे बुद्धिमान्, वीर और शक्तिशाली बनाया। उसने मुझे दया और धर्म का मार्ग सुझाया और उसी की कृपा से मेरे हृदय में सत्य के प्रति प्रेम का सागर हिलोरें मारने लगा। कोई भी मानवीय जिह्वा उस परमपिता के स्वरूप, गुण आदि का पूर्ण वर्णन नहीं कर सकती। अल्लाहो अकबर! ईश्वर महान् है।"

आह! अपने संमुख, अपने चरणों में, हजारों पुरुषों को एक साथ उस परमपिता की उपासना में रत, नतमस्तक होते देखकर अकबर स्तब्ध हो गया। अपने नए पद की महत्ता का अनुभव कर अकबर अवाक् रह गया, उसका गला भर आया, आँखें डबडबा गईं। उसने कपड़े में अपना मुँह छिपा लिया और आसन से उतर पड़ा। अकबर के अधूरे संदेश को शाही काजी ने पूरा किया। अकबर ने स्वप्न देखा, जिसमें वह महात्मा तथा नवीन धर्म-प्रचारक की तरह खड़ा, उपदेश दे रहा है और समस्त प्रजा स्तब्ध खड़ी उसके संदेश को एकाग्र होकर सुन रही है। किंतु वास्तविक जीवन में उसका स्वप्न भंग हुआ; उसे प्रथम बार प्रतीत हुआ कि स्वप्नलोक भौतिक संसार से बहुत दूर एक ऐसे स्थान में

बसा है, जहाँ मनुष्य अपनी इच्छाओं से, अपनी आकांक्षाओं के साथ स्वच्छंदता-पूर्वक खेल सकता है।

यह है अकबर का दीवान-ए-खास। बाहर से एक साधारण दुमंजिला मकान देख पड़ता है, किंतु भारतीय कला का एक अद्भुत नमूना है। एक ही स्तंभ पर सारी ऊपरी मंजिल खड़ी है। इसका निर्माण करने में भारतीय कारीगरों ने अपनी बहुत कुछ बुद्धि व्यय की होगी। भारत में अपनी तरह का यह एक ही मकान है। इस मकान में अकबर के समय में क्या होता होगा, सो हम नहीं जानते। इस विषय पर इतिहासकारों का मतभेद अवश्य है कि इस मकान में धार्मिक विवाद होते थे या नहीं। किंतु यह कहा जाता है कि इसी स्थान पर अकबर इस महान् स्तंभ पर आसन लगाकर बैठ जाता था और नीचे चारों ओर बैठ भिन्न-भिन्न धर्मानुयायी बारी-बारी से अपने धर्म की व्याख्या करते थे।

अकबर का मस्तिष्क विश्वबंधुत्व तथा मानव-भ्रातृत्व के विचारों का पूर्ण आगार था। भिन्न-भिन्न धर्मों का भीषण संघर्षण देखकर अकबर के इन विचारों पर कठोर आघात पहुँचता था। वह कुछ ऐसे मूल तत्त्वों का संग्रह करके एक ऐसे मत को प्रारंभ करना चाहता था जहाँ वह संघर्षण न हो। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह बैठा भिन्न-भिन्न मतानुयायियों के कथन सुना करता था। उस महान् स्तंभ पर बैठा हुआ अकबर चुपचाप इन वादविवादों को सुना करता था, और अंत में वह एक महान् सत्य को पा सका, जो संसार के चारों महान् धर्मों का प्रधान कथन है। उस महान् स्तंभ की तरह "ईश्वर एक है"—इस महान् सत्य पर ही अकबर ने दीन-ए-इलाही का महान् भवन निर्मित किया। ज्यों-ज्यों वह

स्तंभ ऊपर चढ़ता जाता था, उसका आकार बढ़ता जाता था, और अंत में ऊपर एक ऐसा स्थान था जिस पर सब धर्मानुयायी समान अवस्था में भाई भाई की तरह मिल सकें। उस महान् धर्म दीन-ए-इलाही में आने के लिए उसने चार राहें भी बनाईं, जो हिंदू, मुसलमान, बौद्ध तथा ईसाइयों को सीधा विश्वबंधुत्व के उस विशाल आकार में ले जा सकें।

यह दीवान-ए-खास एक तरह से अकबर के दीन-ए-इलाही का मूर्तिमान् स्वरूप है। ऊपरी दृष्टि से यह एक साधारण वस्तु देख पड़ती है, किंतु यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो यह अपने ढंग का निराला ही है। इसी भवन में दीन-ए-इलाही का प्रारंभ हुआ था और इसी भवन के समान यद्यपि संसार विश्वबंधुत्व की उस महान् भावना को आश्चर्यचकित होकर देखता है तो भी उसे एक अव्यावहारिक आदर्श समझ कर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता। दीन-ए-इलाही के समान ही यह भवन परित्यक्त, परंतु एक पूर्ण आदर्श है।

सीकरी खँडहर ही विश्वबंधुत्व तथा मानव-भ्रातृत्व के नवजात शिशु-आदर्श की श्मशान-भूमि है। मध्यकालीन भारत ने उसे गला घोंटकर मार डाला और दफ़ना दिया। अपने बच्चे की मृत्यु पर उसकी माता जगत्-शांति हाहाकार करती है और रात्रि के समय जब समस्त संसार शांत हो जाता है और सुदूर आकाश में जब तारागण इस दुखी संसार को ताकते हैं तथा इसकी दशा पर मूकरुदन करते हैं उस समय आज भी उन खँडहरों में उस दुखित माता का सिसकना सुनाई देता है।

× × × ×

दीवान-ए-खास के पास ही एक चौकोर चबूतरा है

जहाँ बादशाह अपनी सम्राज्ञियों या अपने प्रेमी मित्रों के साथ जीवित गुटों का चौसर खेला करते थे। प्रत्येक गुट के स्थान पर एक सुंदर दासी खड़ी रहती थी। पूर्णिमा की रात को जब आकाश साफ होगा और जब समस्त संसार पर शीतल चाँदनी छिटकी होगी उस समय इस स्थान पर चौसर का खेल कितना मादक रहा होगा! अकबर के उन्मत्त मस्तिष्क की यह अनोखी सूझ थी। जहाँ तक पढ़ा या सुना है, संसार में अकबर के सिवा किसी भी व्यक्ति ने जीवित गुटों का चौसर नहीं खेला।

यों तो प्रत्येक शासक अपनी प्रजा के जीवन, उसकी स्वतंत्रता तथा उसके समस्त कार्यों के साथ खिलवाड़ किया ही करता है। एक-आध ही शासक ऐसा होगा जिसे यह मालूम हो कि आज्ञाओं का पालन करने में शासितों पर क्या क्या बीतती होगी? जिन शासकों ने कभी आज्ञापालन का अभ्यास नहीं किया, जिन्होंने बाल्यकाल से ही मानव-जीवन के साथ खिलवाड़ किया, उनके लिए मानव-जीवन एक आमोद-प्रमोद की वस्तु है। वे दूसरों के जीवन के साथ खेलते हैं—उन बेचारों को यह पता नहीं कि उनका खिलवाड़ शासितों के लिए कितना भयंकर है।

परंतु अकबर का यह खिलवाड़ उतना ही अहिंसक था, जितनी एक स्वप्न की लड़ाई। संसार के लिए वह एक स्वप्न था, कुछ ही वर्षों के लिए और वह भी गिनती बार, संसार ने यह दृश्य देखा। वह अतीत स्मृति हो गई। अकबर के स्वप्न का एक अनोखा दृश्य था। स्वप्नलोक का एक नया नाटक था। अकबर के रँगरेलियों के प्रोग्राम की एक अद्वितीय मनोरंजक वस्तु थी।

× × × ×

इस स्वप्नलोक में एक स्थान वह भी है जहाँ अकबर अपने यौवन को तथा साम्राज्य के महान् भार को भूलकर कुछ समय के लिए आँख-मिचौनी खेलने लग जाता था। अकबर के भी वक्षःस्थल में एक छोटा सा हृदय धुकधुकाता था। अपने महान् पद की उच्चता का भार निरंतर वहन करते करते कई बार वह थकावट का अनुभव करता था। आठों पहर सम्राट् रहकर मानव-जीवन से दूर गौरव के ऊसर रेगिस्तान में पड़ा अकबर तड़पता था। उसका हृदय इन बनावटी बंधनों के अंदर पड़ा फड़फड़ाता था। इसी कारण जब उस छोटे हृदय में विद्रोहाग्नि धधक उठती थी, तब कुछ समय के लिए वह अपने पद की महत्ता तथा गौरव को एक ओर रखकर बालकों के उस सुखद भोले-भाले संसार में घुस पड़ता था, जहाँ मनुष्यमात्र, चाहे वह राजा हो या रंक, एक समान हैं और सब एक साथ खेलते हैं। बालकों के साथ खेलकर अकबर वह जीवन-रस पीता था, जिसके बिना साम्राज्य के गुरुतम भार से दबकर वह कभी का इस संसार से विदा हो गया होता।

× × × ×

स्वप्न संसार का यह स्वप्नागार (ख्वाबगाह) एक अनोखा स्थान है। स्वप्नलोक में रहते हुए भी स्वप्न देखने की अकबर की लत नहीं छूटी। स्वप्न-संसार में मस्त तो पड़ा था, फिर भी वह वास्तविक संसार को भूलना चाहता था। भौतिक संसार के कार्यों से उसे निरंतर काम पड़ता था। ऐश्वर्य और विलासिता के सागर में गर्क रहते हुए भी उसे एक साम्राज्य का शासन करना पड़ता था। साम्राज्य का शासन करना तथा विस्मृति-मदिरा पीकर ऐश्वर्य-सागर में गोते लगाना

दो ध्रुवों की नाईं विभिन्न हैं। अतएव जब अकबर की इच्छा हुई कि कुछ काल के लिए इस महोदधि में गोता लगावे, तो उसने सांसारिक बातों को, साम्राज्य-संचालन-संबंधी कार्यों को, एक स्वप्न समझा। स्वप्नलोक के स्वप्नागार में पड़ा अकबर साम्राज्य-संचालन का स्वप्न देखा करता था। राज-कार्य करते हुए भी ऐश्वर्य-मदिरा का मद न उतरने देने के लिए अकबर ने इस स्वप्नागार की सृष्टि की थी।

× × × ×

सीकरी का ताल सूख गया, उसके साथ ही मुस्लिम साम्राज्य का विशाल वृक्ष भी सूखकर खोखला हो गया। करोड़ों पीड़ितों के आँसुओं से सींची जाकर उस विशाल वृक्ष की जड़ें ढीली हो गईं। अतः जब अराजकता, विद्रोह तथा आक्रमण की भीषण आँधियाँ चलने लगीं, युद्ध की लपलपाती हुई बिजलियाँ चमकीं, पराजयरूपी वज्रपात होने लगा, तो वह साम्राज्यरूपी वृक्ष उखड़कर गिर गया, टुकड़े टुकड़े हो गया, उसके शेष-अवशेष विलास और ऐश्वर्य की अदृष्ट अग्नि, असहायों के निःश्वास तथा शहीदों के भीषण फुंकार से जलकर भस्म हो गए, जहाँ एक सुंदर वृक्ष खड़ा था, जो संसार में एक अनुपम वस्तु थी, वहाँ कुछ ही शताब्दियों के लिए रह गए—गंभीर गह्वर, उस वृक्ष के कुछ अधजले, झुलसे हुए यत्र तत्र बिखरे टुकड़े तथा उस विशाल वृक्ष की भस्म। सीकरी के खँडहर उसी भस्म को रमाए खड़े हैं।

× × × ×

सब कुछ सपना था, विलीन हो गया। दो आँखों की ही यह सारी करामात थी। प्रथम तो एकाएक झोंका आया, अकबर मानों सोते से जग पड़ा, स्वप्नलोक को छोड़कर भौतिक

संसार में लौट आया। स्वप्न भंग हो गया था, स्वप्नलोक उजड़ गया था, एक अतीत स्मृति रह गई थी, किंतु दो आँखें—अकबर की आँखें – ऐसी थीं जिन्होंने यह सारा स्वप्न देखा था—जिनके सामने यह सारा नाटक कुछ काल के ही लिए क्यों न हो—एक सुंदर मनोहर नाटक खेला गया था। और जिसमें स्वयं अकबर एक पात्र था, स्वप्नलोक के उस रंगमंच पर अपना पार्ट करता था। उन दोनों आँखों के बंद होते ही उस स्वप्न की रही-सही स्मृतियाँ भी लुप्त हो गईं। जो एक समय सच्चा नाटक था, बाद में एक स्वप्न था, उसका अब कुछ भी शेष नहीं रहा। शेष है तो वह सुनसान भग्न मंच, जहाँ वह स्वप्न आया था, जहाँ यह सारा नाटक खेला गया था, जहाँ कुछ काल के लिए समस्त संसार को भूलकर अकबर ऐश्वर्य-सागर में गोते लगाने के लिए कूद पड़ा था, जहाँ अकबर के यौवन की कामनाओं ने नग्न नृत्य किया था, जहाँ वह महान् तथा विजयी सम्राट् भी रँग-रेलियाँ करता था। सीकर वह स्थान है जिसे देखकर मालूम होता है कि मनुष्य कितना ही वड़ा क्यों न हो, उसकी भी छाती में एक छोटा सा कोमल भावुक हृदय धुकधुकाता है, उसके भी हृदय में कहीं भीषण संग्राम होते हैं और ऐसे पुरुष को भी मानवी दुख-दर्द मानवी कामनाएँ-वासनाएँ सताती हैं।

—

बीसवीं सुरभि—

(श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी)

साहित्य की चेतना क्या है और वह चेतना किस प्रकार सार्वभौम है—यही दिखाने का प्रयत्न लेखक ने किया है। विश्व में विभिन्न आदर्शों और विभिन्न समाजों के होते हुए भी एकत्व का स्वरूप दिखाई देता है। जिस प्रकार के लौकिक संबंध एक देश में दिखाई देंगे उसी प्रकार के दूसरे देश में भी, इसलिए देश-काल के आवरण के होते हुए भी जीवन में एक ही धारा रूप बदलकर प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है। साहित्य में यही एकत्व साध्य होता है। यही कारण है कि विभिन्न देशों में विरोध की लौकिक स्थिति होते हुए भी उनके साहित्यों में विरोध नहीं दिखाई पड़ता। इसी एकत्व को लेखक ने बड़ी ही तर्कपूर्ण शैली और समर्थ शब्दावली में प्रस्तुत किया है। केवल साहित्य ही में नहीं, कलाओं में भी पूर्ण एकत्व के दर्शन लेखक ने किए हैं।

तीर्थ-सलिल

कलाधर अनंत के वक्षःस्थल पर विहार करता है। वहाँ जरा और मृत्यु का भय नहीं, मर्त्यलोक की भावना नहीं। कलाधर की ज्योत्स्ना मर्त्यलोक को ही आप्लावित करती है। महिमा-मंडित राजप्रासादों और पापमय कारागारों में वह एक ही भाव से क्रीड़ा करती है। कलाधर के समान कवि भी संकीर्णता से विमुक्त रहते हैं। उनकी कला देश और काल के व्यवधान को दूर कर देती है। कवि अपनी कला के द्वारा विश्व-भाव को ही खोजते और उसी को व्यक्त करते हैं। उनके भाव का अनुभव सभी जातियों के मनुष्य कर सकते हैं। उनकी वाणी सभी के मुख में, भाषा-रूप में, परिस्फुट हो सकती है। यह सच है कि कवि मनुष्य ही है, और प्रत्येक मनुष्य में उसका व्यक्तिगत और जातिगत विशेषत्व होता है। भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न कालों के भिन्न-भिन्न आचार-व्यवहार होते हैं। प्रत्येक भाषा की भी एक विशेषता होती है। कवि इन्हीं से अपने काव्य की रचना करता है, इन्हीं से अपनी कला के लिए उपकरण-संग्रह करता है। देश और काल से पृथक् विश्व-नामक किसी भी पदार्थ की कल्पना हम नहीं कर सकते। कवि की कला यही है कि विशेष में भी निर्विशेष विश्व को प्रकट करता है। जो देश और काल से परिमित है उसी के भीतर वह शाश्वत का रूप अभिव्यक्त करता है। वह हमें सीमा में असीम के दर्शन कराता है, अनंत सत्य को मूर्तिमान् कर इंद्रिय-ग्राह्य बना

देता है। कला की यही कुशलता है। कवि भले ही विदेशी नाम और रूप का वर्णन करे, वह भले ही विजातीय दृश्य को अंकित करे, परंतु हम कवि के उसी अनुभव को ग्रहण करते हैं जो नाम और रूप से परे है। वही कवि की मर्मवाणी है; वही कला का ध्येय है। अस्तु। प्रकृति के अनंत सौंदर्य-भंडार से कला की सृष्टि होती है। परंतु कला प्रकृति-सौंदर्य की प्रतिच्छाया नहीं है, वह मनुष्य के अंतःसौंदर्य का बाह्य रूप है।

जिस प्रकार कवि की कृति में उसकी आत्मा निवास करती है, उसी प्रकार प्रत्येक चित्र में चित्रकार की आत्मा लीन रहती है। प्रत्येक कला-कोविद के अंतर्जगत् में देवी प्रकृति की जो आनंददायिनी मूर्ति है वही उसकी कला में प्रकट होती है। काव्य उसी की भाषा, संगीत उसी की ध्वनि और चित्र उसी की छाया है। जो शिल्पकार अपने अंतर्जगत् में उस मूर्ति का दर्शन कर लेता है, उसी के शिल्प में यथार्थ सौंदर्य रहता है। जिसका अंतःकरण मलिन है उसकी कला में सौंदर्य का विशद रूप नहीं प्रकट होगा। कला में व्यक्तित्व की यही प्रधानता है, और इसी से विभिन्नता आती है। परंतु इस विभिन्नता में भी एकता है। वह है उसका मनुष्यत्व। सभी देशों और सभी कालों में मनुष्य मनुष्य ही रहेगा। सम्राट् अपने वैभव के कारण एक दरिद्र कृषक से अवश्य बड़ा है, परंतु मनुष्यत्व के संबंध में दोनों बराबर हैं। एक पुण्यात्मा अपने चरित्र-बल से किसी भी पतित मनुष्य से उच्च स्थान प्राप्त कर सकता है; परंतु मनुष्यत्व के रूप में दोनों एक ही स्थान ग्रहण करेंगे। यही मनुष्यत्व कला का आदर्श है। वह क्या है, सो हम आगे बतलाने की चेष्टा करते हैं।

मनुष्यत्व का यथार्थ रूप देखने के लिए हमें उस मानस-सरोवर का पता लगाना चाहिए, जहाँ से सभी देशों की कलाएँ धारा में निस्सृत होती हैं। साधारणतः कला के पाँच विभाग किए जा सकते हैं—स्थापत्य, भास्कर्य, चित्रकला, संगीत और कविता। इन पाँचों में हम सौंदर्य के रूप पाते हैं। एक विराट् रूप और दूसरा कोमल रूप। एक हिमालय है, तो दूसरा मंदाकिनी। सौंदर्य के विराट् रूप में हम विराट् वासना, विराट् प्रतिहिंसा, विराट् क्षमता और विराट् आत्मत्याग देखते हैं। और उसके कोमल रूप में हम स्नेह, दया, करुणा, ममता आदि भावों की प्रधानता पाते हैं। सभी देशों और कालों की कला में हम यही बात देखेंगे। अतएव हम यह कह सकते हैं कि मनुष्यत्व में महत्ता और कोमलता, इन्हीं दो गुणों का संमिश्रण हुआ है किंतु कला की सार्थकता इन गुणों को श्रेयस्कर पथ पर ले जाना है।

अब हम यह देखना चाहते हैं कि कला-कोविदों ने सौंदर्य का आदर्श कहाँ देखा, मनुष्यों को पवित्र करने के लिए तीर्थ-सलिल कहाँ एकत्र किया। जब उन्होंने करुणा और स्नेह को मूर्तिमान् कर देखना चाहा, तब उसको अन्नपूर्णा के ही रूप में देखा। जब उन्होंने शक्ति को साकार सिद्ध किया, तब दुर्गा प्रकट हुई। जब उन्होंने संसार की ऋद्धि-सिद्धि, विद्या, विज्ञान और प्रेम-रूप को कहीं एकत्र किया, तब उनको लक्ष्मी और सरस्वती, वीनस, एथेना के ही स्त्रीरूप में देखा। उसी प्रकार उन्होंने शांति को शिव, शौर्य को विष्णु और मृत्यु को यम-पुरुष के रूप में पाया। दयामयी पृथ्वी को उन्होंने स्त्री का रूप दिया, और अनंत ऐश्वर्य को इंद्र का पुरुषरूप प्रदान किया। यह प्राचीन युग की कल्पना-मात्र नहीं है। इसमें

सत्य का गूढ़ तत्त्व विद्यमान है। वह तत्त्व क्या है, यह जानने के लिए हम विश्व-साहित्य के उच्च आदर्शों पर एक बार दृष्टिपात करते हैं। रामायण में एक ओर प्रेम है, तो दूसरी ओर आशंका। एक ओर शौर्य है, तो दूसरी ओर प्रतिहिंसा। होमर के 'इलियड' में, पुरुषों की उत्कट लालसा और स्त्रियों का विषाद, पुरुषों का दर्प और स्त्रियों का बलिदान, ये ही दो भाव एक साथ अंकित हुए हैं।

महाभारत में जिस प्रकार शौर्य, सत्य और धर्म की प्रधानता है, उसी प्रकार दर्प, विद्वेष और क्रूरता के भी निदर्शन हैं। शेक्सपियर के नाटकों में मानव-चरित्र का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। उसके 'किंग लियर' में जहाँ बंधुत्व और पितृस्नेह वहाँ अज्ञान और क्रूरता भी। 'हेमलेट' में यदि पितृभक्ति और प्रेम है, तो स्वेच्छाचारिता और उपेक्षा का भाव भी 'ओथेलो' में सरलता और शौर्य है, तो जिघांसा और असूया भी। इससे पुरुषों की महिमा का अनुमान किया जा सकता है। पुरुष विराट् भावों की ओर ही अग्रसर होता है। भगवान् बुद्धदेव की शांति, ईसा मसीह का प्रेम, अर्जुन की शक्ति, धर्मराज का धैर्य, एकलिस का पराक्रम, ये सब विराट् रूप के ही द्योतक हैं। भवसागर के तट पर अथवा संसार के रण-क्षेत्र में इनकी शक्ति उद्दीप्त होती है। ये दिनकर के प्रकाश के समान मनुष्यों की अंतर्निहित शक्तियों को जाग्रत् करके, कार्य-क्षेत्र में अग्रसर करते हैं। परंतु स्त्रियों की कोमलता, चंद्र-कला की ज्योत्स्ना के समान, मनुष्यों के अंतःकरण में सुधा-वर्षा करती है। यदि हम लोग पृथ्वी पर स्वर्ग का दृश्य देखना चाहते हैं, तो मातृस्नेह में स्वर्गीय शोभा का अनुभव कर सकते हैं। दरिद्रों की कुटियों और श्रीमानों

के राजप्रासादों में वह सबसे अधिक मूल्यवान् रत्न है। यदि मनुष्य को उसका गर्व है, तो पशु को भी। मातृस्नेह ने समस्त पृथ्वी को आप्लावित कर रखा है। वहाँ जातिभेद या वर्ण-भेद नहीं है। देश-काल उसको मर्यादित नहीं कर सकते, अतएव मातृरूप को अंकित करने में सभी कोविदों ने अपनी कला की सार्थकता समझी है।

मातृस्नेह के साथ ही अपत्य-स्नेह है। अपत्य पर पिता का उतना ही अधिकार है, जितना माता का। तो भी शिशु माता ही की गोद में शोभा देता है। शिशु में जो सरलता है, वह माता ही की सरलता की प्रतिच्छाया है। सरलता पवित्रता से पृथक् नहीं है। हम गौरव देखकर चकित होते हैं, पर सरलता देखकर उसमें तन्मय हो जाते हैं। अपत्य के रूप में यह अमूल्य धन हमें स्त्रियों ही से मिला है। जिस प्रकार क्षुद्र शीत-बिंदु में सूर्य की अनंत आभा स्पष्ट हो जाती है, उसी प्रकार शिशु के सौंदर्य में स्वर्ग की प्रतिमा परिस्फुट होती है। शिशु को हम पृथ्वी पर स्वर्ग का पारिजात कहेंगे, जिसने अच्छे और बुरे का ख्याल न करके सभी को अपने आमोद से प्रमुदित कर रखा है। जिस प्रकार वधिक के हृदय में 'आर्थर' पवित्र स्नेह का संचार कर देता है, उसी प्रकार दुष्यंत के हृदय में 'सर्वदमन' आशा का प्रकाश फैला देता है। मनुष्यत्व का रूप दोनों में एक ही भाव से व्यक्त होता है। अतएव कला में शिशु ने अपना एक पृथक् राज्य स्थापित कर लिया है। कवियों के लिए शैशव की लीला सचमुच वर्णनीय विषय है। पृथ्वी में यदि कहीं सरलता और पवित्रता है तो शिशु में। यही कारण है कि कवियों और चित्रकारों ने बाल्यकाल का चित्र अंकित कर पृथ्वी

पर स्वर्ग-राज्य की सृष्टि की है। पाश्चात्य चित्रकारों ने ईसा मसीह के बाल्यकाल का चित्रांकण किया है, और भारतीय चित्रकारों ने बाल-गोपाल का। किसी कवि ने कहा है कि, आकाश की उज्ज्वल नक्षत्रावली जिस प्रकार आकाश का काव्य है, उसी प्रकार पृथ्वी का विचित्र कुसुम-संभार। परंतु हमारी दृष्टि में तो पृथ्वी के शिशु-रूपी सचेतन पुष्प में ही सबसे अधिक सौंदर्य है।

महाकवि होमर ने अपने ओडेसी नामक काव्य में शिशु यूलियस का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है। कवि-कुल-गुरु कालिदास का शिशु-वर्णन भी बड़ा ही हृदयग्राही है। तुलसी-दास का बाल-वर्णन भी मनोहर है। कालिदास और तुलसी-दासजी ने शिशुक्रीड़ा का केवल दर्शनमात्र कराया है; परंतु सूरदास ने शिशु-जीवन का रहस्य खोल दिया है। 'सूरसागर' के दशम स्कंध में कृष्ण की बाललीला का विशद वर्णन है।

मनुष्यत्व का तीसरा रूप उसके दुःख और दारिद्र्य में प्रकट होता है। यदि कोई भावना मनुष्य-जाति को एक करती या कर सकती है तो वह दुःख की भावना है। जैसे निशा के अंधकार में मनुष्यों का व्यक्तिगत भेद नष्ट हो जाता है, वैसे ही दुःख की छाया पड़ने पर सभी अपना भेद-भाव भूल जाते हैं। सुख और समृद्धि में मनुष्य मनुष्य से दूर हो सकता है; पर दुःख और दारिद्र्य में वह अपना हाथ बढ़ाकर शत्रु को भी गले लगाता है। मनुष्यों में सहानुभूति का होना स्वाभाविक है। इसका उदय दुःख में ही होता है। साहित्य और कला में वेदना का इतना प्रबल भाव होने का यही कारण है।

अनादि काल से मनुष्य एक चिरंतन आदर्श की खोज कर रहा है। अपने जीवन की एक अवस्था में जिसे वह, सत्य

का पूर्ण रूप समझकर, ग्रहण करता है, उसी को जीवन की दूसरी अवस्था में त्याज्य समझता है। जीवन की अपूर्णावस्था में सत्य का पूर्णरूप कैसे उपलब्ध हो सकता है? साहित्य और कला में जब मनुष्यत्व का आदर्श प्रदर्शित होता है, तब हम वहाँ इसी अपूर्णता का दर्शन करना चाहते हैं। गौरव के पूर्ण रूप में भी हमें जब कोमलता का आभास मिलता है, तब हमारा चित्त उसकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट होता है। साहित्य में आदर्श रूप से जिन पात्रों की सृष्टि हुई है, उनके चरित्र में मानव-स्वभाव की दुर्बलता का चित्र अवश्य अंकित होता है और तभी वे हमारे हृदय में स्थान प्राप्त कर लेते हैं। यदि उनकी क्षमता की ओर ध्यान दें, तो हम उनका वह विराट् रूप देखेंगे, जो हमारे लिए अनधिगम्य है। परंतु मनुष्य की सभी दुर्बलताओं से मुक्त होने पर उनमें हम अपने जीवन का प्रतिरूप देख लेते हैं। मनुष्यों के स्वभाव में दुर्बलता अवश्य है। परंतु दुर्बलता नीचता नहीं है। अन्याय से किसी की नीचता नहीं सिद्ध होती। जो दुराचारी हैं, वे भी अन्याय का—यदि उस अन्याय से उनका कोई स्वार्थ नहीं है—समर्थन नहीं करते। जहाँ अपनी हानि या लाभ नहीं है, वहाँ दुष्ट भी दूसरों की दुष्टता का सुफल नहीं देखना चाहते। इच्छा अपनी वस्तु है। परंतु उसके अनुसार कर्म करने की क्षमता सभी में नहीं रहती। जब हम किसी प्रलोभन में पड़कर कोई काम करते हैं, तब दूसरों से अभिभूत होते हैं। तब उसके लिए हमें जो अनुताप होता है उससे हमारी हृद्गत इच्छा का स्वरूप प्रकट होता है। जब तक हम अपने अवगुणों के अधीन हैं, तब तक दासत्वबंधन में पड़े रहते हैं। जब हम अनुतप्त होते हैं, तब मुक्त हो जाते हैं। अतएव मनुष्य के लिए जिस प्रकार किसी भी इच्छा के वशीभूत होकर प्रलोभन

में पड़ना स्वाभाविक है, उसी प्रकार उसका अनुतप्त होना भी उसके स्वभाव के अनुकूल है। कला-कोविदों की सृष्टि में हम वेदना और अनुताप का प्राधान्य अवश्य पावेंगे।

कविता की उत्पत्ति के विषय में, भारतवर्ष में, जो कथा प्रसिद्ध है, उससे यह भलीभाँति सिद्ध होता है कि वेदना की अनुभूति से ही मनुष्य के हृदय में स्वर्गीय भाव का उद्रेक होता है। क्रौंच का वध देखकर आदि-कवि के हृदय में जो शोक हुआ था वह श्लोक के रूप में व्यक्त हुआ। विश्व की वेदना से सहानुभूति रखकर कवि ने चरम सौंदर्य की सृष्टि की। उनकी कृति में धर्म की विजय और पाप की पराजय ही की कथा नहीं है, दुःख की विजय और त्याग की महत्ता भी वर्णित है। रामचंद्र का गौरव लंका-विजय अथवा रावण-वध पर प्रतिष्ठित नहीं है; उनका यथार्थ गौरव तपस्वी के रूप में है, जिसने सदैव कर्तव्य के लिए दुःख का आलिंगन किया। दुःख की यह महत्ता साहित्य के सभी श्रेष्ठ ग्रंथों में प्रदर्शित हुई है। वियोगांत नाटकों की सृष्टि भी इसी महत्ता को दिखाने के लिए हुई है। उन नाटकों में हम प्रायः धर्म की विजय नहीं देखते। इसके विपरीत पाप ही की विजय देख पाते हैं, परंतु धर्म का पथ सुखमय नहीं होता। यदि वह सुखमय होता, तो कदाचित् उसका गौरव ही नष्ट हो जाता। यही कारण है कि वियोगांत नाटकों में पराजित व्यक्ति ही के प्रति हमारी सहानुभूति अधिक होती है। दुःखानुभूति की विशेषता यही है कि उससे सहानुभूति व्यक्त होती है। संसार दुःखपूर्ण है, मनुष्यों का जीवन दुःखमय है। इसलिए इस संसार में प्रेम और सहानुभूति की प्राप्ति हो सकती है।

यही कारण है कि साहित्य और कला में करुणरस सबसे श्रेष्ठ माना गया है। इस मर्त्यलोक में जीवन और मृत्यु की जो लीला हो रही है, मनुष्यों के हास्य में भी करुण वेदना की जो ध्वनि उठ रही है, क्षणिक संयोग के बाद अनंत वियोग की जो दारुण निशा आती है, उसी से मर्माहत होकर कवि के हृदय से विश्व-वेदना का उद्गार निकलता है, जिसके स्वर से व्यथित हृदय में भी शांति आ जाती है।

कला में अश्रु अप्रिय-दर्शन नहीं है। यथार्थ में, कितने ही चित्रों में अश्रु से अधिक सौंदर्य का विकास होता है। किंतु अश्रु ही शोक और दुःख का एकमात्र लक्ष्य नहीं है। साधारण चित्रकार करुणरसात्मक चित्र अंकित करने में प्रायः अश्रु की सहायता लेते हैं। किसी चित्र में अश्रुपूर्ण नेत्र अंकित किए जाते हैं और किसी में पतनोन्मुख अश्रु-जल। किंतु सभी अवस्थाओं में शोक का परिणाम अश्रु-जल नहीं होता। जब दुःख अधिक रहता है, तब छाती फट जाती है; परंतु आँखों से आँसुओं की एक भी बूँद नहीं टपकती, और न मुँह से कोई शब्द ही निकलता है। अगाध दुःख का वर्णन करते समय कवि 'हाय ! हाय !' की धूम नहीं मचाते। वे कभी-कभी विरह-व्यथा के वर्णन में आँसुओं की झड़ी और हिचकियों का ताँता लगा देते हैं—परंतु जब यही व्यथा अत्यंत गंभीर रूप धारण कर लेती है, तब कवि अश्रुओं का वर्णन नहीं करते।

शोक का एक कारण मृत्यु है। अतएव करुणरस में मृत्यु का दृश्य प्रदर्शित किया जाता है। मृत्यु के संबंध में मनुष्यों की जैसी भावनाएँ हैं, वे ही कला में व्यक्त होती हैं।

जिनके लिए मृत्यु अनंत वियोग की निशा है, वे मृत्यु को आलिंगन नहीं कर सकते। मृत्यु उनको असह्य है। परंतु जो यह मानते हैं कि मृत्यु के भीतर अनंत जीवन निहित है, वे मृत्यु का भी स्वागत करते हैं। मृत्यु उनके लिए आशा का संदेश लाती है। दुःख की भावनाएँ सदैव मर्मस्पर्शी होती हैं। कहा जाता है, मनुष्य स्वभाव से ही आनंद का इच्छुक है। तो फिर दुःख की भावना से उसको कौन-सा आनंद प्राप्त होता है? वह किसके लिए दुःख का स्वागत करता है?

मनुष्य-जीवन में सर्वत्र प्रकाश नहीं है, अंधकार भी है। मनुष्य में जैसे क्षमता है, वैसे ही दुर्बलता भी। मनुष्य का पतन हो सकता है, इसीलिए उसके उत्थान-पतन दृग्गोचर होते हैं। हिंदी के कितने ही विद्वान् मनुष्य-जीवन के अंधकारमय भाग को साहित्य में देखना ही नहीं चाहते। पाप की वीभत्स लीलाओं को वे साहित्य से दूर ही रखना चाहते हैं, परंतु जीवन की पूर्णावस्था प्राप्त करने के लिए हमें अपूर्णावस्था के भीतर से होकर ही जाना पड़ेगा। मनुष्य की क्षमता यही है कि वह पतितावस्था से ही उच्चतम अवस्था को पहुँच सकता है। उसकी दुर्बलता यह है कि वह उच्चतम अवस्था प्राप्त करके भी भ्रष्ट हो सकता है। दुराचारियों की जिन वीभत्स कृतियों से हमारा चित्त उद्विग्न हो उठता है, वे भी जीवन की एक अवस्था की सूचना देने के लिए आवश्यक हैं। मनुष्य के लिए अधःपतन की पराकाष्ठा जितनी सच्ची है, उतना ही सच्चा उसका अभ्युत्थान भी। यही कारण है कि जिन विश्व-कवियों ने हमें जीवन की उच्चतम अवस्था दिखलाई है, उन्होंने जीवन की निम्नतम अवस्था की भी

उपेक्षा नहीं की। यही नहीं, उन्होंने श्रेष्ठ चरित्रों में भी मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता प्रदर्शित कर दी है।

मनुष्य-संसार में पुरुष भी हैं और स्त्रियाँ भी। पुरुषों की क्षमता और दुर्बलता स्त्रियों की क्षमता और दुर्बलता से भिन्न है। पुरुष जिसे दुर्बलता समझता है, वही स्त्रियों की क्षमता है। पुरुष की क्षमता ऐश्वर्य में है, और स्त्रियों की क्षमता दारिद्र्य में। जहाँ पुरुष दुर्बल है, वहीं स्त्री की शक्ति प्रकट होती है। पुरुष सर्वस्व प्राप्त कर सकता है, और स्त्री सर्वस्व दे सकती है। पुरुष के लिए अप्राप्य कुछ भी नहीं है, और स्त्री के लिए अदेय।

पुरुष स्त्री को गिराकर खड़ा रहता है, और स्त्री गिरकर भी पुरुष की रक्षा करती है। अपने धर्म की रक्षा के लिए पुरुष स्त्री का परित्याग कर सकता है और स्त्री परित्यक्त होकर भी पुरुष के कर्म की रक्षा करती है। हमारी समझ में स्त्री ही पृथ्वी की कल्पलता है। कल्पलता की आवश्यकता समृद्धि में नहीं, अभाव में है। जब पुरुष अकिंचन हो जाता है तभी वह स्त्री से सर्वस्व प्राप्त करता है। साहित्य में स्त्रियों के चरित्र का विकास जैसा अंकित किया गया है, उसी की चर्चा आगे की जाती है। स्त्रियों के चरित्र-विकास के संबंध में सबसे पहले यही प्रश्न उठता है कि नारी-प्रकृति के मूल-उपादान क्या हैं? जब दुष्यंत ने राज-सभा में शकुंतला पर कपट का दोष लगाया, तब गौतमी ने कहा—"राजन्, यह दोषारोपण अन्याय है। शकुंतला प्रकृति की गोद में पली है। वह छल करना जानती ही नहीं।" परंतु दुष्यंत ने यह निश्चयपूर्वक कहा कि कपटाचरण नारी-प्रकृति के मूल-उपादानों में से एक है। दुष्यंत के इस कथन की परीक्षा के लिए

यह आवश्यक है कि नारी-प्रकृति पर विचार किया जाय। यदि स्त्री मानव-समाज से पृथक् रहे, सभ्यता के संपर्क से बिलकुल दूर रहे, तो उसके चरित्र में कौन-सी विशेषता रहेगी ? यह तो संभव नहीं कि मनुष्य-संसर्ग से कोई भी स्त्री बिलकुल पृथक् रह सकती है। नारी-चरित्र की आलोचना में हमें केवल इसी बात पर ध्यान देना चाहिए कि समाज और सभ्यता का प्रत्यक्ष प्रभाव न रहने पर नारी-चरित्र का विकास किस प्रकार होता है।

हमारी समझ में, जिन स्त्रियों के चरित्र का संगठन सभ्यता के संपर्क से पृथक्, निर्जन स्थान में, हुआ है, उनके मानसिक भावों में तीव्रता होनी चाहिए। उनका प्रेम निर्मल रहेगा; किंतु वह वन-नदी के प्रवाह के समान तीव्र होगा। उनमें सरलता रहेगी, परंतु उसके साथ स्वच्छंदता भी होगी। उनकी वासना निर्बाध और प्रखर होगी। अस्तु।

साहित्य में नारी-चरित्र की आलोचना करते समय हमारे आगे एक बात स्पष्ट हो जाती है। वह यह कि स्त्रियों का जीवन ही प्रेम-मय होता है; प्रेम में ही उनके जीवन की सार्थकता है। पतितावस्था में भी उनका यह प्रेम-भाव उज्ज्वल बना रहता है।

× × × ×

जो सच्चे कवि हैं, वे देश और काल के घेरे से परे हैं। देश और काल का आश्रय ग्रहण कर, उनमें रहकर, उन्हीं के उपकरणों का संग्रह कर वे सभी देशों और सभी कालों के लिए उपयुक्त आदर्श की सृष्टि करते हैं।

इक्कीसवीं सुरभि—

(श्री चंडीप्रसाद 'हृदयेश')

अलंकृत शैली की रचना के लिए हृदयेशजी प्रसिद्ध हैं। खड़ी बोली के पद्यों का रूखापन तो संस्कृत की मधुर पदावली के विधान से बहुत कुछ दूर हो गया था, पर गद्य में रूखापन बना हुआ था; प्रसाद, हृदयेश आदि की रचनाओं से यह भी बहुत कुछ दूर हो चुका है। कथा-कहानी की इधर जो अभिवृद्धि हुई, उसमें विदेशी अनुकृति के कारण काव्य-पक्ष दब-सा जा रहा था और वह अपनी पुरानी रसीली परंपरा से पृथक् सी होती जा रही थी। जिन लेखकों के प्रयत्न से कथा-क्षेत्र में भी स्वदेशी रंग चढ़ने लगा, उनमें हृदयेशजी भी हैं।

नारी के दो प्रधान रूप हैं—रमणी और जननी। एक प्रेय है दूसरा श्रेय। एक में अशांति है और दूसरे में पूर्ण शांति। नारी के इसी द्विधारूप का चित्रण सांकेतिक ढंग से इस कहानी में किया गया है, मातृरूप शांति-निकेतन है, यही भारतीय संस्कृति का भी सद्भावाश्रित निकेतन है। बड़ी ही मनोहर पदावली में इस निकेतन की रूपरेखा व्यक्त की गई है। हृदयेशजी की यह काव्याख्यायिका (पोयटिक स्टोरी) निराली रचना है!

शांति-निकेतन

(१)

पारिजात-निकुंज में स्फटिक-शिला पर बैठी हुई हास्य-मुखी कल्पना ने विषाद-वदना चिंता के चिबुक को कर-कमल से उठाकर कहा—"बहन ! चलो, इस चंद्रिका-धौत गगन-मंडल में विहार करें।" चिंता ने अन्यमना होकर उत्तर दिया—"ना बहन ! मुझे इस कुंज की सघन छाया ही में विश्राम मिलता है।" कल्पना ने अभिमान में भर लोचन अश्रु-पूर्ण करके कहा—"बैठो बहन ! मैं तो इस विस्तृत ब्रह्मांड के प्रत्येक धाम का निरीक्षण करूँगी।" चिंता को चिंता-निमग्न छोड़कर कल्पना चंद्रिका-चर्चित नभ-प्रदेश में विहार करने के लिए चली गई।

कल्पना के कलित कलेवर में शीतल समीर ने सुरभित सुमन-समूह का पराग लेकर अंगराग लगाया; चंद्रिका ने हँसकर सुधा-स्नान कराया; अंबर ने नीलांबर पहनाया; तारकावली ने हीरक-हार पहनाया; स्वर्ग-मंदाकिनी ने कर-कमल में कांचन-कमल का उपहार दिया। इस प्रकार सुसज्जित होकर, सर्वत्र-गामी मनोरथ पर आरूढ़ होकर, कल्पना कनक-राज्य में विचरण करने के लिए निकली। और चिंता ? विषाद-वदना चिंता उसी पारिजात-कानन में स्निग्ध छायामय निकुंज में किसी की चिंता करने लगी।

निद्राभिभूत चंद्रशेखर कल्पना के रथ की गति को देखने लगे। देखते-देखते मनोरथ दृष्टि-पथ से अंतर्हित हो गया।

चंद्रशेखर व्याकुल होकर कल्पना के लिए पुकारने लगे। उनकी आँख खुल गई; स्वप्न की स्निग्ध आभा चैतन्य के अत्युज्ज्वल आलोक में विलीन हो गई।

प्रातःकाल का शीतल पवन ललित लताओं को आलिंगन करता हुआ बह रहा था; कनक-कुंज में बैठकर कलित-कंठ कोकिला कोमल सुमन को जगाने के लिए प्रभाती गा रही थी। यामिनी उषा को अपना राज्य देकर सघन वन की अंधकारमयी छाया में तप करने जा रही थी।

कल्पना चिंता को निकुंज में परित्याग करके स्वयं संसार में परिभ्रमण कर रही थी।

चंद्रशेखर ने देखा—आश्चर्य और आह्लाद के अपूर्व संमिश्रण में, स्वप्न और सत्य के सुवर्ण राज्य में, ध्यान और ध्येय के विचित्र संमिलन में, अभिलाषा और पूर्ति की अनोखी संधि में देखा, कल्पना फूलों के राज्य में विहार कर रही है।

चंद्रशेखर ने निकट जाकर पूछा—"कौन ? कल्पना ?"

कल्पना ने उत्तर दिया—"मैं कल्पना नहीं, किशोरी हूँ।"

कल्पना की भाँति किशोरी भी उसी क्षण अंतर्हित हो गई, चंद्रशेखर अनिमेष लोचन से देखने लगे।

कुतूहल और कल्पना—दोनों सहोदर हैं।

(२)

यामिनी और उषा के अंतिम आलिंगन के समय, स्मृति और प्रत्यक्ष की क्षणिक संधि के अवसर पर, स्वर्ग और संसार के निमेषव्यापी मिलन के मुहूर्त में, स्वप्न और सत्य के चुंबन-व्यापार में, चंद्रशेखर ने किशोरी का कांत दर्शन प्राप्त किया था। उस समय विकार का आडंबर

नहीं था। स्निग्ध शांति का सुंदर सुराज्य था। चंद्रशेखर ने जो दृश्य देखा था वह भूलने योग्य नहीं था। संसार के रंगमंच पर सौंदर्य का एक पूरा अभिनय था। चंद्रशेखर केवल दर्शक ही नहीं थे। उन्होंने उस अभिनय में भाग भी लिया था। तब भला वह कैसे भूल सकते थे! स्वर्ग से दूर रहकर भी पुण्य-प्रवृत्ति ऊँची उठती है। पंक में पतित होकर भी हीरक-ज्योति अपनी आभा का विस्तार करती है। विपत्ति के अंधकार-गह्वर में भी आत्मा का आलोक दृष्टिगोचर होता है। तब स्वभाव के सुकुमार बंधन में बँधकर मनुष्य अपनी कृति की स्मृति कैसे भूल सकता है!

चंद्रशेखर का हृदय, किशोरी के नव-यौवन-वन में, विहार करने लगा। लावण्य-सरोवर के विकच इंदीवर-नयन में, प्रफुल्ल गुलाब के सुकोमल पल्लवाधर में, तुषार-कण-सिक्त विकसित कमल-कपोल में, नव-दूर्वादल-श्याम रोम-राजि में, हिमाचल के कलित-कनक-शृंग में, चंद्रशेखर का मन तन्मय होकर विहार करने लगा। चंद्रशेखर संसार में रहकर भी कल्पना-कल्प किशोरी की मधुर मूर्ति के साथ स्वर्ग में विहार करने लगे। इस स्वर्ग में समीर था, किंतु शीतलता नहीं थी; तन्मयता थी, किंतु आनंद नहीं था; राग था, किंतु उतार नहीं था। चंद्रशेखर प्रणय-पर्वत पर स्थित होकर अचेत होने लगे। कौन जानता था कि उनका पतन स्वर्ग में होगा अथवा रसातल में? इस संबंध में क्या चंद्रशेखर सदुपदेश को सादर ग्रहण करेंगे?

किशोरी किशोरावस्था की सीमा पर पहुँच चुकी थी। यौवन की उद्दाम प्रवृत्ति की रंग-भूमि में किशोरी ने प्रथम चरण रखा था। यौवन के तीव्र मद की अरु-

णिमा उसके नयन-कमलों में दृष्टि-गोचर होने लगी थी। उसकी गति में भी सुरा का मतवालापन परिलक्षित होता था। आनंद-मद से भरी हुई निःश्वास एवं प्रत्येक अंग का विकास खिलती हुई कली के सदृश प्रतीत होता था। कैसा अपरूप लावण्य था। शरत्काल के विमल जल की भाँति, दर्पण की स्वच्छता की भाँति, पुण्यात्मा के हृदय की भाँति, सती के प्रेम की भाँति उसका समस्त शरीर देदीप्यमान हो रहा था। कमलिनी ने अभी तक बालरवि के प्रथम किरण-स्पर्श से उत्पन्न होनेवाले विद्युत्-प्रवाह का अनुभव नहीं किया था, कुमुदिनी ने कलाधर की सुधाधारा में अवगाहन नहीं किया था। कैसी मनोरम संधि थी! कैसा मृदुल मिलाप था! स्वच्छ सुंदर गगन में मानों लालिमा की प्रथम रेखा थी; कैशोर-कानन में यौवन-वसंत का मानों प्रथम पद-संचरण था; प्रतिपदा और द्वितीया के संमिलित योग में सुधाधर की मानों पहली कला थी; स्वच्छ तुषार के ऊपर मानों बालरवि की प्रथम किरण थी; पकते हुए रसाल के ऊपर प्रकृति की लेखनी से चित्रित की हुई मानों प्रथम अरुण-रेखा थी; नंदन-वन की पारिजात-लता का मानों प्रथम विकास था; सौंदर्य की रंग-भूमि पर रति-देवी की मानों पहली तान थी।

परिधान! सुंदर शरत्काल की यामिनी मानों चंद्रिका की साड़ी पहनकर खड़ी हुई थी। गुलाब की अधखिली कली मानों जुही की साड़ी पहनकर विहार करने आई थी, आदि-कवि की कल्पना मानों शुभ्र अंबर परिधान करके साहित्य के उपवन में घूम रही थी; आत्मा मानों उज्ज्वल सत्य की साड़ी पहनकर पवित्रता के परम पावन वन में पुष्पचयन

कर रही थी! चंद्रशेखर इस रूप पर, इस वेश पर बलिहार हो गए।

चंद्रशेखर उपवन में इधर-उधर घूमने लगे। उपवन उसी तरह शांत एवं मनोरम था; किंतु चंद्रशेखर को मालूम होता था, मानों प्रत्यक्ष स्मृति के गर्भ में लोप हो गया; ध्वनि प्रतिध्वनि में लीन हो गई; राग मूर्छना के विवर में लुप्त हो गया; और राज-राजेश्वरी भगवती कल्याण-सुंदरी की मृदुल हास्य-ध्वनि निस्तब्धता की गंभीर गुफा में अंतर्हित हो गई।

(३)

कितने ही दिवस व्यतीत हो गए। ऋतुराज का रामराज्य समाप्त हो गया। ग्रीष्म का भीषण साम्राज्य भी अंतर्हित हो गया। उत्तप्त कलेवर पर पीयूष-प्रवाह की भाँति, पश्चात्तापदग्ध हृदय पर करुणामय की अजस्र करुणा-धारा की भाँति, शाप-संतप्त मानव-मानस पर दया की आशीर्वाद-लहरी की भाँति, सूर्यतप्त पृथ्वी-मंडल पर नील-नीरज-श्याम सघन-घन की शीतल वारि-धारा पतित होने लगी। चंद्रशेखर की स्मृति-दामिनी भूतकाल के सघन अंधकार को पाकर भी तीव्रता से चमकने लगी। घोर अंधकार के मध्य में दामिनी की वह तीव्र ज्योति—स्मृति का वह अक्षय दीपक—किशोरी का वह कल्पनामय कांत कलेवर—चंद्रशेखर को दुःख देकर भी, कराल काल की कालिमा-मयी कंदरा में पतित होने से बचा लेता था।

सुविशाल गंभीर महासागर में निमग्न होता हुआ नाविक दूर पर—बहुत दूर पर—पृथ्वी और आकाश की मिलन सीमा पर—उड़ती हुई जलयान की वैजयंती का दर्शन पाकर, जिस प्रकार

मृत्यु की भीषण कंदरा में पतित होने से बचने की चेष्टा करता है, सहस्र-सहस्र विपत्तियों के जाल में आबद्ध मानव दूर पर, भविष्य के अंधकारमय गगन में, आशा की कल्पनामयी ज्योति को देखकर जिस प्रकार इस असार संसार पर अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के प्रयत्न में प्रवृत्त होता है, उद्भ्रांत पथिक निराशा के भयंकर मरुप्रदेश में, उत्तप्त रेणुका-राशि के मध्य में, दूर पर—बहुत दूर पर—मरीचिका की मायिक छटा को देखकर जिस प्रकार अपने प्राणों को इस नश्वर देह में कुछ काल के लिए और भी बंदी रखने का प्रयास करता है, ठीक उसी प्रकार चंद्रशेखर किशोरी को—अपने हृदय-साम्राज्य के एकमात्र आधार-स्तंभ को—अपने मानस-सरोवर के एकमात्र विकसित सरोज को—अपने प्रणप पादप के एकमात्र विकच पुष्प को—अपनी जीवनव्यापिनी यामिनी के एकमात्र उज्ज्वल नक्षत्र को—दूर पर, समाज और धर्म की सीमा के परे, लोक और परलोक के अंतिम छोर पर, स्वर्ग और संसार की अंतिम रेखा पर देखकर उसकी मृदु मुसकान पर अपना सर्वस्व लौकिक और पारलौकिक, वार देने के लिए प्रेम के पारावार को पार करके अपनी रक्षा करने की चेष्टा में प्रवृत्त हो रहे हैं। हाय! चंद्रशेखर! तुम्हारा कैसा दुःसाहस है; कैसा असंभव अभिमान है; कैसा व्यर्थ स्वार्थत्याग है।

चंद्रशेखर प्रायः सब समय ही उपवन में रहते हैं। वह कल्पना का साहचर्य पाकर, किशोरी को नायिका बनाकर, भावों की रस-लहरी को प्रवाहित करके, अपने हृदय-पट पर, अव्यक्त भाषा में, मनोहर चिंता-छंद में एक महाकाव्य की रचना करते हैं। छंद के साथ कहीं वीणा भी बज जाती! रस-मंदाकिनी यदि कहीं उन चरण-कमलों को भी चूम पाती! कल्पना यदि

कहीं किशोरी का शृंगार कर पाती! किंतु उषा के बिना प्रातःकाल का वैभव निष्फल है; पात्र के विना रस का आधार नहीं है; सौंदर्य के बिना भक्ति का प्रवाह व्यर्थ है, और किशोरी के विना जगत् शून्य है।

चंद्रशेखर उसी शून्य में आत्म-विस्मृत होकर घूमने लगे। उपवन की फल-विनम्र पादप-राजि, कुसुमाभरण-भूपिता लता-श्रेणी, दुग्ध-फेन विनिंदित दूर्वा-दल, कलकंठ पक्षि-कुल, अधिक क्या प्रकृति का संपूर्ण वैभव भी उनको अनेक प्रलोभन दे देकर भी शून्य में जाने से न रोक सका। चंद्रशेखर निरुद्देश हृदय, अनियंत्रित गति, उदासीन मति, अवांछित आशा और अशेष ज्वाला के साथ, इस जगत् के महाशून्य में गृह को परित्याग करके चल दिए। सब कुछ टूट गया, केवल एक बंधन है; जीवन की विद्युत् के साथ उसका संबंध है। जिस दिन वह टूटेगा, उस दिन संभवतः चंद्रशेखर इस जगत् में नहीं रहेंगे।

कैसा आश्चर्य है—कठिन जीवन एक सूक्ष्म तंतु पर अवलंबित है।

(४)

महाशून्य की महाशांति कैसी भयंकर है। अर्धनिशा के समय श्मशान-भूमि में, यामिनी के तृतीय प्रहर की समाप्ति के समय, मरणोन्मुख व्यथित की मृत्युशय्या पर पार्श्व-देश में, निर्घोष उल्कापात के समय तिमिरावृत गगन-मंडल में, निर्बोध के हृदय पर अत्याचार के समय नीरव आघात में—कैसी भयंकर शांति होती है, उसका अनुभव इस मत्सरमय संसार को अनेक बार प्राप्त हुआ है। उसी महाशून्य की महाशांति में महारात्रि की महानीरवता में चंद्रशेखर कूद पड़े हैं। महाज्योति का आभास पाकर महासंगीत का निनाद सुनकर चंद्रशेखर पार

हो सकेंगे या नहीं, इस विषय में संदेह करना मूर्खता का लक्षण नहीं है।

चंद्रशेखर ने अनेक तीर्थों में परिभ्रमण किया, अनेक पुनीत-सलिला सरिताओं में स्नान किया, अनेक जन-शून्य काननों में परिभ्रमण किया, किंतु उस महाशून्य में वल्लकी के स्वर कभी नहीं गूँजे, आनंद की भैरवी का रव कभी कर्ण-गोचर नहीं हुआ, अभिलाषा की ताल पर आशा के उस मनोहर नृत्य की पद-झंकार कभी नहीं सुनाई दी। उसी महाशांति के बीच में चंद्रशेखर एकाकी घूमने लगे। महाशून्य में परिव्याप्त महावायु ने मानों उनकी हृदयाग्नि को और भी भयंकर रूप से प्रज्वलित कर दिया, अब वेदना का नीरव दर्शन और व्याधि की निर्घोष ज्वाला उनके उस कामकल्प कोमल कलेवर को भस्मसात् करने का प्रबल आयोजन करने लगी।

कहाँ है वह स्निग्ध नवनीत-तुल्य शांति—जो शांति संसार-त्यागी महात्माओं का भी हृदय आकर्षित कर लेती है, सघन वन में उत्पन्न होनेवाली काली को चूमकर हँसा देती है, शैल-शिखर पर स्थित होकर ओषधिवर्ग में संजीवनी-शक्ति का संचार कर देती है, नंदन-कानन में पारिजात को विकसित करती है, ऋषियों के हृदय में आत्मा के स्वरूप का—आनंद की अक्षय ज्योति का—दर्शन कराती है। उषा के निद्रित नयनों में प्रद्युम्न की मनोहर मूर्ति को लाकर स्थापित करती है, निर्बोध बालक के मंजुल मुख पर मंदहास्य; मातृत्व के पवित्र वक्षःस्थल में करुणा और भ्रातृत्व के पवित्र हृदय-सदन में स्वार्थत्याग की लहरी प्रवाहित करती है। जिसकी छाया में योगी की आत्मा निर्वाण-पद को प्राप्त करती है, जिसके आश्रय में सुर-निवास स्वर्ग की पदवी धारण करता

है, जिसके चरणतल में स्थित होकर धर्म अपनी रक्षा करता है, पुण्यपादप जिसकी पद-निःसृत मंदाकिनी से सिंचित होकर ऊर्ध्वमूल कहलाता है, जिसकी प्रणय-मुद्रा को देखकर त्रस्त आश्वस्त हो जाते हैं, जिसकी मृदु मुसकान देखकर अचल अचल हो जाते हैं, जिसका वीणा-विनिंदित स्वर सुनकर उन्मत्त होकर वायु मंद मंद बहने लगता है, जिसकी कांति को देखकर जल आत्म-विस्मृत होकर, निर्मल-शक्ति होकर, अनंत की ओर प्रवाहित होता है, वह शांति—प्यारी शांति--कहाँ है ? चंद्र-शेखर उसके लिए व्यग्र हो गए। उस शांति को प्राप्त करने के लिए अशांत हो गए। उमड़ा हुआ हृदय-पयोधि नयनों से बह चला ! वह अश्रुधारा हृदय की धधकती हुई अग्नि में घृतधारा अथवा शीतल वारि-धारा होकर पतित होगी--सो कौन कह सकता है !

गिर पड़े ! चंद्रशेखर हिमाचल की उस परम रम्य उपत्यका में, कदली-वन-वाहिनी कल्लोलिनी के दुकूल पर, चंद्रिका-चर्चित शिला-खंड पर, मंद-पवनांदोलित कुसुम-शय्या पर, शांति का पवित्र आश्रय न पाकर मूर्च्छा के कोमल क्रोड़ में पतित हो गए।

मूर्च्छा शांति का क्षीण आभास है।

(५)

मूर्च्छा निद्रा की सहोदरा है। जिस प्रकार निद्रा श्रमित विश्व को अपने विशाल वक्षःस्थल पर सुलाकर शांति प्रदान करती है, उसी प्रकार मूर्च्छा भी व्यथित प्राणी को अपनी गोद में लेकर उसे शांति प्रदान करके फिर तुमुल संग्राम के लिए प्रस्तुत करती है। मूर्च्छा के कोमल क्रोड़ को छोड़कर

निद्रा की आनंददायिनी गोद में चंद्रशेखर कब आए—सो भगवती जाने।

× × × ×

चंद्रशेखर ने स्वप्न देखा—

वर्षाऋतु का प्रथम प्रातःकाल है। कैलास के कांचन-शिखर पर नवीन नीरधर मरकत और कनक के अपूर्व संयोग की अनोखी छटा दिखा रहे हैं। कदली-वन के अभ्यंतर में कोकिला अपने कलकंठ से बोल रही है। मानस-सरोवर का शुभ्र निर्मल जल गगनव्याप्त सघन घन-पुंज की छाया को धारण करके कालिंदी के घनश्याम-रंजित नील जल की समता कर रहा है। गोपिकाएँ मानों मराल-माला बनकर नील नीरज को चतुर्दिक् से परिवेष्टित कर रही हैं। मयूर हर्षोन्माद से नृत्य कर रहे हैं। पवनांदोलित जल-तरंग-माला यौवन के प्रथम आवेग में एक दूसरे के गले मिलकर, प्रियतम के आलिंगन के काल्पनिक सुख का अनुभव कर रही हैं। समय कैसा सुंदर है; कैसा शांत और मनोरम है!

उन्होंने देखा—सूर्य-किरण-माला का उल्लासप्रद नृत्य नहीं है, किंतु शीतल छाया की मनोहर पद-झंकार है। वसंत का विकार-वर्धक वायु नहीं है, वरन् व्याकुल हृदय को शीतल करनेवाली मंद समीर है। ज्योति का तीव्र तेज नहीं है, वरन् शांति की स्निग्ध छाया है। चंद्रशेखर ने स्वप्न में उस चिर-अभिलषित शांति का सुखद सहवास प्राप्त किया।

उन्होंने देखा—एक लता-मंडप में एक शिलाखंड पर, नृत्य एवं कल्लोल करती हुई कल्लोलिनी के तट पर कल्पना और चिंता बैठी हुई हैं। चिंता का मुखमंडल मानों दया का पारावार था; कल्पना का सुंदर वदनमंडल मानों शृंगार की

मंदाकिनी थी। चंद्रशेखर कुसुमाच्छादित द्वारदेश पर खड़े होकर उन दोनों की बातें सुनने लगे।

कल्पना ने कहा—"बहन, कहाँ है वसंत का वह मनोहर वेश? कहाँ है समीर की वह मदमत्त गति? कहाँ है कोकिल की वह उन्मत्त कूक? ज्ञात होता है, मानों एक महान् छाया ने अपने अंचल में उस वसंत के सूर्य को छिपा लिया है।"

चिंता ने कहा—"ना बहन! यह वसंत का परिवर्तित वेश है। विलास के गान से मुखरित वन में आज शांति का कोमल स्वर परिव्याप्त हो रहा है। सूर्य की अभिमानिनी किरणमाला को अपने वक्षःस्थल पर छिपाकर भगवान् की सुस्निग्ध छाया अपनी उदारता का परिचय दे रही है। बहन, ब्रह्मांड के समस्त धामों में विहार न करके यदि केवल उसी में विहार किया जाय, जिसके चतुर्दिक् अनंत ब्रह्मांड घूमते हैं, तो जीवन का दुःख सुख में परिवर्तित हो सकता है; उन्मत्त युवक वसंत शांत प्रावृट्-संन्यासी के रूप में परिवर्तित हो सकता है। आज वसंत का वही संन्यास-वेश है। वसंत संसार का साम्राज्य छोड़कर, प्रकृति के विशाल वक्षःस्थल पर, उसके स्तनद्वय की पुण्य पीयूषधारा को पान करके, ज्ञान की कांचन-कंदरा में निर्वाणदायिनी शांति का आश्रय ग्रहण कर रहा है। कल्पना, देखती हो इस मूर्त्ति को?"

कल्पना ने कहा—"हाँ, देखती हूँ बहन!"

चिंता ने कहा—"तब आओ! तुम्हारे पृथक् रहने की आवश्यकता नहीं। मेरी विभिन्न विभूति की भाँति अब तुम भी मेरे ही में अंतर्हित हो जाओ।"

कल्पना चिंता में तल्लीन हो गई। किंतु चिंता के मुख पर वही मंद हास्य था, जिसे शिशु माता के मुख पर, बालकिरण

कुसुम के अधर पर, योगी उषा के वदन पर, त्यागी संतोष के ओष्ठ पर और व्याकुल शांति के उज्ज्वल आनन पर देखता है।

चंद्रशेखर ने देखा—प्रकृति की प्रकृत शांति विशुद्ध चिंता के रूप में, योगियों के हृदय-सदन में, बालकों के मन-सुमन में और विश्वप्रेम के परोपकार-प्रासाद में रहती है। चंद्रशेखर आनंदातिरेक से जाग उठे।

× × × ×

चंद्रशेखर ने देखा—सामने एक वृद्ध योगीश्वर बैठे हैं। चंद्रशेखर ने उन्हें प्रणाम किया। योगीश्वर ने आशीर्वाद देकर कहा—"वत्स, मेरे साथ आओ।"

धर्म विश्वास को, त्याग परोपकार को, संतोष नैराश्य को मंत्र-दीक्षा देने के लिए ले चला।

चंद्रशेखर और योगीश्वर ने उसी कदली-वन में प्रवेश किया। चंद्रशेखर को प्रतीत हुआ कि उनके उन्मत्त हृदय पर मानों शांति-कादंबिनी की प्रथम पीयूषधारा पतित हुई।

योगीश्वर और चंद्रशेखर उस कदली-वन के अभ्यंतर में अग्रसर होने लगे। मधुर स्वर से पतन होनेवाली जलधाराएँ, झूमती हुई कुसुमाभरणभूषिता लताओं की गोद में हँसते हुए गुलाब-कुसुम, चित्र-विचित्र पक्षिकुल का मधुर स्वर—सब मिलकर योगीश्वर और चंद्रशेखर का अभिनंदन करने लगे। कदली-दल ने अपनी दीर्घ बाहुओं को मानों उन्हें आलिंगन देने के लिए प्रसारित किया। चंद्रशेखर और योगीश्वर प्रकृति के साम्राज्य में विचरने लगे।

कदली-कानन के अभ्यंतर में एक वन्य चमेली का मनोहर लतामंडप है। पीत पुष्पों से समस्त वनस्थली वसंत की शोभा का परिहास कर रही है। इधर उधर से दो-तीन झरने कल-

कल शब्द करते हुए बह रहे हैं। उसी लता-मंडप के संमुख योगीश्वर और चंद्रशेखर खड़े हो गए।

योगीश्वर ने कहा—"चंद्रशेखर, स्वप्न की बात स्मरण है?"

चंद्रशेखर ने कहा—"हाँ प्रभो, स्मरण है। इस समय मैं स्वप्न को सत्य के स्वरूप में देख रहा हूँ।"

योगीश्वर ने कहा—"देखोगे—आगे चलकर और भी देखोगे। अपने प्रेम के व्यक्तित्व को अनंत महासागर में निमग्न कर दो।"

चंद्रशेखर ने कहा—"कैसे करूँ भगवन्? जिसको हृदय-सिंहासन पर बिठाया है, उसे उतारकर महाशून्य में कैसे फेंक दूँ?"

योगीश्वर ने हँसकर कहा—"चंद्रशेखर, महाशून्य में नहीं; मैं कहता हूँ अनंत में। आँखें उठाओ।"

चंद्रशेखर ने आँखें उठाकर देखा, लता-मंडप में, वन्य पुष्पों के कोमल आसन पर, अनंत सुषमामयी भगवती भारतमाता खड़ी हैं। चंद्रशेखर ने नत-शिर होकर प्रणाम किया।

योगीश्वर ने कहा—"देखते हो, कैसी मोहिनी मूर्ति है! कैसा जननी का स्वरूप है! मातृत्व की विमल धारा मानों दोनों स्तनों से बहकर संसार में शांति-पीयूष प्रवाहित कर रही है। देखो मा का हीरकखचित शुभ्र किरीट, नीलांचल चित्रित अंबर! और देखो मा का यह ऐश्वर्य! इन्हीं मा के पाद-पद्मों में अपने प्रेम के व्यक्तित्व की अंजलि समर्पण कर दो, विश्व-प्रेम का पवित्र मंत्र ग्रहण करो।"

चंद्रशेखर ने कहा—"और किशोरी?"

योगीश्वर ने चंद्रशेखर के शिर पर हाथ रखकर कहा—"किशोरी को गिरिराज किशोरी के रूप में देखो।"

चंद्रशेखर ने देखा, किशोरी मानों माता की ममता-लहरी से चंद्रशेखर को अभिषिक्त कर रही है। सौंदर्य व्यक्तित्व को हटाकर संसार को अपनी वात्सल्यमय मुसकान और प्रेममयी करुणा-धारा से शीतल कर रहा है।

चंद्रशेखर ने माता को साष्टांग प्रणाम किया। ज्ञात हुआ कि उत्तप्त कलेवर पीयूष में स्नान करके शीतल हो गया। वेदना मानों करुणा की आशीर्वाद-लहरी में अवगाहन करके शांत हो गई। चंद्रशेखर ने अपूर्व शांति प्राप्त की।

माता का कोमल क्रोड़ ही शांति का निकेतन है।

—

परिमल

वर्णविन्यास

हिंदी में वर्णविन्यास (स्पेलिंग या हिज्जे) का विचार पहले तो कुछ होता भी था, पर अब तो उन संस्थाओं के कर्ता-धर्ता भी इसका विचार नहीं रखते जिन्होंने किसी समय इस संबंध में कोई व्यवस्था बाँधी थी। हिंदी में अनुस्वार और पंचम वर्ण दोनों से काम लिया जाता है। छापे की कठिनाई के कारण और लिखने में झंझट होने से कवर्ग, चवर्ग और टवर्ग के वर्णों के पूर्व अधिकतर अनुस्वार का ही व्यवहार होता है। केवल तवर्ग और पवर्ग के वर्णों के पूर्व ही पंचम वर्ण लगते हैं। वस्तुतः हिंदी में अनुस्वार का उच्चारण 'न्' है। केवल कवर्ग के साथ अंशतः और पवर्ग के साथ पूर्णतः पंचम वर्ण सुनाई पड़ता है। इसलिए यदि हिंदी में अनुस्वार का व्यवहार सर्वत्र किया जाय तो कोई अड़चन नहीं है। ऐसा हिंदी की परंपरा के अनुकूल भी है। हिंदी के पुराने हस्तलिखित ग्रंथों में अनुस्वार का ही व्यवहार मिलता है। अनुस्वार की बिंदी का प्रयोग सानुनासिक उच्चारण के लिए भी इधर होने लगा है, विशेषतः दीर्घ स्वरों के साथ। पहले ऐसे स्थानों पर चंद्रबिंदु (ँ) का ही व्यवहार होता था; क्या लिखने में और क्या छापने में। इधर छपाई में केवल बिंदु ही चलने लगा तो लिखाई-पढ़ाई से भी चंद्रबिंदु उठता जा रहा है। हस्तलिखित ग्रंथों में चंद्रबिंदु का प्रयोग बराबर मिलता है। छपाई की कठिनाई के कारण समाचार-पत्रों में यदि ऐसा होता है तो हो, लिखाई-पढ़ाई में ऐसा क्यों? कहीं तो शुद्ध रूप बना रहे! 'हैं' और 'हैँ' में ठीक उच्चारण करने से अंतर पड़ता है, पहले का उच्चारण 'हैम्' या 'हैन्' सा होगा। अनुस्वार के लघु उच्चारण के लिए

ही उसके बिंदुवाले रूप (ं) में चंद्राकार (ँ) लगाया गया है। क्योंकि चंद्राकार लघुप्रयत्न या ह्रस्वत्व का बोधक है। कुछ लोगों ने अब यह कहना भी आरंभ किया है कि ण, न और म में बिंदु या चंद्रबिंदु नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि ये वर्ण स्वयं अनुनासिक हैं। उनके अनुस्वार 'प्राणों, दोनों, कामों' के स्थान पर 'प्राणो, दोनो, कामो' ही लिखे जायँ। विचार करने से ज्ञात होता है कि हिंदी में अनुस्वार का प्रयोग इनके साथ भी होना चाहिए। यदि ऐसा न होगा तो 'माँस' और 'मास' में भेद न रहेगा। 'दोनों' और 'दोनो' में भी वैयाकरणों ने भेद किया है। हिंदी में संबोधन के बहुवचन में सानुनासिकता हटा दी जाती है। इसलिए 'ब्राह्मणों' और 'ब्राह्मणो' में भेद होता है। 'सज्जनों' और 'सज्जनो', 'गुणधामों' और 'गुणधामो' में भी ऐसा ही भेद है। अतः यह प्रयास ठीक नहीं प्रतीत होता। वस्तुतः सानुनासिकता सानुनासिक व्यंजन में न होकर उसमें लगे स्वर में होती है। 'मेँ' में चंद्रविंदु 'म्' से संबद्ध नहीं है, 'ए' स्वर से लगा है। अतः जो ऐसा कहते हैं उन्हें भ्रांति है और बहुत बड़ी भ्रांति है।

हिंदी में क्रियाओं के दो दो रूप चलते हैं—आई-आयी, गए-गये। इसी प्रकार कुछ विशेषण शब्दों में भी दुहरे रूप चलते हैं—नई-नयी, नए-नये। इनमें से पहले रूप तो उच्चारण के अनुगामी हैं और दूसरे रूप व्याकरण की विधि के। 'आया' पुंलिंग का रूप है, अतः व्याकरण के अनुसार स्त्रीलिंग का 'ई' प्रत्यय लगने से 'आयी' रूप बना; इसी प्रकार बहुवचन का 'ए' प्रत्यय लगने से 'आये'। पर 'नागरी' में उच्चारण के अनुसार लिखना ही ठीक है। संस्कृत के 'गतः' से 'गअ' या 'गय' होता है, इसी से खड़ी बोली में 'गया', ब्रज भाषा में 'गयो' या 'गो' और अवधी भाषा में 'गवा' या 'गा' रूप होते हैं। ब्रज और अवधी

के स्त्रीलिंग और बहुवचन में स्वरवाले रूप ही चलते हैं, 'य व' वाले रूप नहीं; फिर खड़ी बोली में ही 'य' वाले रूप क्यों? 'ई' लगाकर यदि व्याकरण का अनुधावन करें तो 'किया' का स्त्रीलिंग रूप 'कियी' होना चाहिए, पर होता है 'की'। यह 'की' वस्तुतः 'किई' है, पर दीर्घसंधि हो जाने से 'की' रूप हो गया है; ऐसे ही 'पिया' से 'पी', 'दिया' से 'दी'। इससे स्पष्ट है कि पूर्व में सवर्ण स्वर होने से 'ई' की संधि हो जाती है। य और व में जब स्वर-प्रत्यय मिलता है तो उनका उड़ जाना भी देखा जाता है; जैसे, 'पाया' (पलंग का) और 'चारपाई', 'तिपाई'; 'ताया' (बाप का बड़ा भाई, ताता या ताऊ = चाचा) और 'ताई' (बड़ी चाची); 'तवा' और 'तई' (थाली के ढंग की छिछली कड़ाही, जिसमें जलेबी या मालपुआ बनाते हैं); 'लावा' और 'लाई'। इसलिए आई, गई और आए, गए रूप ही ठीक हैं। 'हुआ' में 'आ' है ही, अतः 'हुई' और 'हुए' लिखना ही ठीक है, 'हुयी' या 'हुये' तो व्याकरण से भी विहित नहीं। 'चाहिए' को 'चाहिये' लिखने में पुंलिंग, स्त्रीलिंग या बहुवचन की दुहाई नहीं दी जा सकती, अतः उसका स्वरवाला ही रूप होना चाहिए। संप्रदान के 'लिए' और क्रिया के 'लिए' में भेद करते हैं। स्वर से क्रिया लिखनेवाले पहले को 'लिये' लिखते हैं। पर इसकी भी आवश्यकता नहीं, दोनों के उच्चारण में कोई भेद नहीं है। यहीं यह कह देना उचित होगा कि संस्कृत के तत्सम शब्दों में 'य' का ही व्यवहार हो। 'स्थायी' या 'उत्तरदायी' को 'स्थाई' या 'उत्तरदाई' नहीं लिखना चाहिए। ऐसे शब्दों के भी तद्भव रूपों में 'ई' का ही व्यवहार करना ठीक होगा; जैसे, 'वाजपेयी' का तद्भव 'बाचपेई' (बैसवाड़ी)। क्रियाओं के कुछ दुहरे रूप विधि और भविष्यत्काल में और मिलते हैं; जैसे, आएगा (आयेगा) और

आवेगा, लाए (लाये) और लावे। इनमें खड़ी के रूप पहलेवाले ही हैं, 'व' वाले रूप कदाचित् पूर्वी के प्रभाव से चल पड़े हैं।

हिंदी में संस्कृत से आए कुछ हलंत शब्दों के रूप दुहरे चलते हैं; जैसे, भगवान्-भगवान, जगत्-जगत, पृथक्-पृथक आदि। हिंदी में इन शब्दों के अंतिम व्यंजन का उच्चारण एक सा ही होगा, चाहे 'भगवान्' लिखें चाहे 'भगवान'। सच पूछिए तो हिंदी में इन शब्दों को अकारांत ही लिखना चाहिए। हिंदी में बने नामों या शब्दों से इनका हिंदी-रूप स्पष्ट हो जाता है; जैसे, भगवानदीन, भगवानदास, भगवानी, जगतसेठ, पृथकता आदि। 'भगवानदीन' का संस्कृत रूप या तो 'भगवद्दीन' होगा (यदि 'दीन' का अर्थ 'दरिद्र' लें) या भगवद्दत्त (यदि 'दीन' का अर्थ 'दिया हुआ' लें)। इस नाम को 'भगवान्दीन' लिखना तो आधी संस्कृत और आधी हिंदी लिखना होगा। 'भगवती' नाम संस्कृत है तो 'भगवानी' हिंदी। 'जगत्सेठ' को संस्कृत विधि से 'जगच्छ्रेष्ठ' होना चाहिए, हिंदी में 'जगत्सेठ' तो 'आधा पंडित आधा साव' होगा। यदि जगन्नाथ, जगदीश आदि शब्दों की दुहाई दी जाय तो कहना पड़ेगा कि ये शब्द संस्कृत से बने-बनाए लिए गए हैं, हिंदी में नहीं बने। बोली में तो बेचारे 'जगन्नाथ' 'जगरनाथ' हो जाते हैं। 'जगद्देव' (जगदेव) को 'जगरदेव' होना पड़ता है। 'जगदंबा' जी 'जगतंबा' हो जाती हैं। 'पृथकता' के स्थान पर संस्कृत के अनुसार हिंदी में 'पृथक्ता' ही रहे तो रह सकती है, पर 'महानता' का क्या होगा? 'महानता' भले ही विद्वानों में अशुद्ध समझी जाय, 'महत्ता' ही शुद्ध रहे, पर यह कहनेवाले को कौन रोक सकेगा कि 'महत्ता' संस्कृत है तो 'महानता' हिंदी। पंडितों की नकल कर चलने से हिंदीवालों को धोखा भी खाना पड़ा है। संस्कृत के कुछ स्वरांत शब्द भी हलंत लिखे जा

रहे हैं; जैसे, श्रीयुत का श्रीयुत्, प्रत्युत का प्रत्युत्, शाश्वत का शाश्वत्, अद्भुत का अद्भुत् आदि। अतः यदि संस्कृत रूपों का भी आग्रह हो तो 'भगवान्' आदि पूर्वोक्त हलंत शब्दों के रूप कम से कम वैकल्पिक अवश्य स्वीकृत किए जायँ।

ऊर्ध्वग रेफ से युक्त व्यंजन विकल्प से दुहरा हो जाता है* जैसे, कार्य-कार्य्य, कर्ता-कर्त्ता आदि। हिंदी में सरलता के विचार से केवल एक व्यंजन वाले रूपों का ही चलना ठीक है। जहाँ महाप्राण वर्ण होता है वहाँ विकल्प से उसी का अल्पप्राण जुड़ता है; जैसे, अर्द्ध-अर्ध, ऊर्द्ध-ऊर्ध्व, वर्द्धन-वर्धन। हिंदी में एक ही वर्णवाला रूप लिखने में क्या हानि है?

ब और व का विवेक प्राचीन समय में सबसे अच्छा नारद-शिक्षा में मिलता है। उसके अनुसार जहाँ 'व' का परिवर्तन 'उ' या 'ऊ' में हो जाय अथवा जहाँ प्रत्यय की संधि से 'व' की प्राप्ति हो वहीं अंतस्था वर्ण आता है, अन्यत्र वर्ग का 'ब' ही होता है।† इसके अनुसार तो संस्कृत में चलनेवाले वे शब्द अधिकांश 'ब' वाले ही जान पड़ते हैं जो वहाँ भी 'व' से लिखे जाते हैं और हिंदी में भी। इसके अनुसार 'वेद' को 'बेद' ही लिखना चाहिए। संस्कृत में 'व' की विशेष प्रवृत्ति को कुछ लोग दक्षिणी मानते हैं। 'व' की प्रवृत्ति हिंदी में इतनी बढ़ने लगी है कि जहाँ 'ब' ही चाहिए वहाँ भी 'व' की स्थापना हो गई है। 'बृहस्पति' जी 'वृहस्पति' हो गए, तो 'बृहत्' को भी 'वृहत्' होना पड़ा। 'वाण' शुद्ध समझा जाने लगा और 'बाण' अशुद्ध। 'बिंदु' की क्या चिंता,

---

* अचो रहाभ्यां द्वे, अष्टाध्यायी, ८।४।४६।

† उदूठौ यस्य विद्येते यो वः प्रत्ययसंधिजः।
अन्तस्थां तं विजानीयात्तदन्यो बर्ग्य इष्यते॥

वह 'विंदु' हो गया। 'बाह्य' (बाहरी) भी 'वाह्य' (ढोनेवाला, गाड़ी या बैल) हुआ। जिस प्रकार हिंदी के प्रभाव से वक्तृता देते हुए संस्कृत के कुछ पंडित 'सेचन' के बदले 'सिंचन' बिना झिझक के कह जाते हैं, 'वातावरण' या 'वायुमंडल' से भी नहीं घबराते, उसी प्रकार इस प्रवृत्ति के कारण एक वैयाकरणजी को एक बार यह भ्रम हुआ कि 'पिवति' (पीता है) के स्थान पर 'पिवति' ही ठीक है। उन्होंने अपनी पुस्तक में इसका शुद्धि-पत्र तक लगाया है। इससे बढ़कर 'व' का प्रसार और क्या होगा।

'श' का प्रभाव भी 'व' से कम नहीं है। 'कैलास' संस्कृत में ही 'कैलाश' हो गया। बहुत दिनों से 'वसिष्ठ' का तालव्य भाव (वशिष्ठ) हो चुका है। जब गुरुजी की यह दशा हो गई तो 'कोसल' की 'कौसल्या' भी 'कोशल' देश की 'कौशल्या' हो गईं और हिंदीवालों की कृपा से 'कौशिल्या' जी बनकर प्रसिद्ध हुईं। घुड़कनेवाले 'केसरी' जी 'केशरी' हुए सो हुए, पर गरजनेवाले 'केसरी' भी डरकर 'केशरी' बन बैठे। यहाँ तक भी कोई बात नहीं, गौड़ देश (बंगाल) की कृपा से संस्कृत में भी 'श' की शंखध्वनि हो गई तो हो गई। पर जब खिलनेवाले 'विकास' 'प्रकाश' के भाई 'विकाश' बनकर अपनी ज्योति जगमगाने लगे हैं तो वे चमकें चाहे जितना पर खिलते नहीं। हिंदी में पढ़े-लिखे लोग तालव्य उच्चारण बनाए हुए हैं। नहीं तो 'श' का बोलचाल में यह उच्चारण नहीं है। ब्रज और अवधी भाषा में भी 'श' और 'ष' दंत्य हो जाते हैं, क्योंकि शौरसेनी में यह प्रवृत्ति प्राचीन काल से है।* अतः हिंदी के अनुकूल तो पूर्वोक्त शब्दों के दंत्य 'स' वाले रूप ही दिखाई पड़ते हैं।

---

* शषोः सः, प्राकृतप्रकाश, २।४३।

'तालु' और 'मूर्धा' में भी झगड़ा है, 'दंत' और 'तालु' में ही नहीं; क्योंकि दोनों पड़ोसी हैं, रहन-सहन में भी और बोलीबानी में भी। 'शश' चाहे 'षष' न हुआ हो† पर 'कोश' का तालु चटक गया, पेट भी फट गया, फिर तो इनके विशुद्ध भाई 'कोष' बन गए। 'वेश' ने 'वेष' बदला, 'विमर्श' का भी 'विमर्ष' होने लगा। हिंदीवाले संस्कृत के इन दुहरे रूपों में से मूर्धन्यों को ही अधिक अपनाते हैं, भले ही उनकी वाणी तालव्यों से ही मिलती हो।

मूर्धन्यों में से महाप्राण तक निकाले जाने लगे, अल्पप्राणों से ही काम चल रहा है। 'धोखा-धड़ी' के प्राण आधे हैं, 'धोका' खाने का यही फल है। 'ठंढ' को भी 'ठंड' आ लगी तो कोई बात नहीं, पछाहीं हवा ठहरी, उसमें 'ठंडक' विशेष हुआ करती है। पर 'पृष्ठ' की पीठ क्यों टूट गई? भला 'पृष्ट' से कैसे काम चलेगा? 'कनिष्ठ' भी छोटे होकर 'कनिष्ट' हुए। 'कर्मनिष्ठ' की निष्ठा अनिष्ट से जा मिली, वह हुआ 'कर्मनिष्ट'। 'कुष्ठ' गलकर 'कुष्ट' रह गया। बद्ध 'कोष्ठ' खुलकर 'कोष्ट' हुआ। 'स्वादिष्ट' भी 'स्वादिष्ठ' नहीं रहा। 'घनिष्ट' से भी 'घनिष्ठता' जाती रही।

शब्दों के कुछ रूप हिंदी में पच्छिम और पूरब के उच्चारण-गत भेद के कारण भी दुहरे हो गए हैं। पश्चिम में 'उँगली' दिखाते हैं, पूरब में 'अँगुली' या 'अँगुरी'। 'र ल' के अभेद से कई शब्दों में पूरब-पछाहँ के कारण रूपभेद हो गया है। पछाहँ का 'फुटकल' पूरब में 'फुटकर' हो जाता है। इसी प्रकार आँचल-आँचर, अटकल-अटकर आदि। 'ल' का 'न' भी होता है; जैसे, 'अड़चल' (पश्चिमी) का 'अड़चन' (पूर्वी)। 'र' का

---

†शशः षष इति मा भूत्। पलाशः पळाष इति मा भूत्—महाभाष्य।

'ड़' भी होता है, 'घवराना' का 'घबड़ाना'। पश्चिमी 'भले-मानस', जिनकी पत्नी 'भलीमानस' है, पूर्व में 'भलेमानुस' बने बैठे हैं।

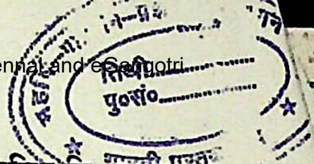
भ्रम से दुहरे रूप कैसे चलते हैं इसके तो बहुत से प्रमाण मिल जायँगे। 'एकत्र' इकट्ठे के अर्थ में है ही, इसमें 'इत' के लगने से 'एकत्रित' पैदा हुआ, जो खूब चलता है। 'सशंक' को 'सशंकित' करते भी लोग 'शंकित' नहीं होते। 'प्रफुल्ल' फूलकर 'प्रफुल्लित' हो गया। 'आवश्यक' से 'आवश्यकीय' निकल पड़ा। कहीं कहीं संज्ञा-शब्दों में हिंदी के ढंग से 'इत' प्रत्यय लगाकर विशेषण बनाने लगे हैं; जैसे, 'क्रोध' से 'क्रोधित', 'क्षोभ' से 'क्षोभित'। संस्कृत के पंडित इससे बहुत ही 'क्रुद्ध' और 'क्षुब्ध' हैं। 'सिद्ध' की चेली 'सिद्धि' की बहन 'सिद्धता', 'कांत' की कन्या 'कांति' फिर 'कांतता', 'प्रसिद्ध' की पुत्री 'प्रसिद्धि' फिर 'प्रसिद्धता' तथा 'ख्यात' की बेटी 'ख्याति' फिर 'ख्यातता' किसी को कष्ट नहीं देतीं। पर 'सुजन' की बड़ी बेटी 'सुजनता' के बाद 'सौजन्यता' बहुतों को चिढ़ाती है, वह अपने भाई 'सौजन्य' का भी अधिकार छीन रही है। इनके अधि-कारों पर हिंदी में जो 'वादविवाद' ('वादाविवाद' नहीं) हुआ था उसे बहुत से लोग भूले न होंगे। झुकाव सरलता की ओर ही होता है, 'सौजन्यता' में वह भी नहीं। भला 'लावण्यता' में कौन सा 'लावण्य' है! सरलता की ओर झुकाव अन्यत्र अवश्य मिलता है। 'महत्' में 'त्व' लगने से 'महत्त्व' होता है; पर उसे हिंदी के बहुत से लेखक 'महत्व' लिखते हैं। यही दशा 'तत्त्व' और 'सत्त्व' की भी है। 'उज्ज्वल' अब प्रायः 'उज्वल' लिखा जाता है। 'संन्यास' के 'बिंदु' को 'सन्यास' लेना पड़ा। 'सन्यासी' नाम का पत्र निकलता था और 'सन्यासी' एक

नाटक भी है। कहीं से बिंदु हटा तो कहीं लगा भी। 'दुनिया' की 'दुनियाँ' को बदले थोड़े ही दिन हुए हैं। 'आटा' अभी कल से 'आँटा' हुआ है।

'उद्देश्य' और 'उद्देश' का झगड़ा तो अब पुराना पड़ गया। 'उद्देश्य' संस्कृत में ही सिद्ध बना बैठा है, हिंदी की कौन चलाए। 'उद्देश्य' और 'उद्देश' की लड़ाई बंद हो गई, 'उद्देश्य' सिद्ध हो गया, जम गया। इधर झगड़ा लगा है 'अनुगृहीत' और 'अनुग्रहीत' में। 'संगृहीत' और 'संग्रहीत' भी लड़ पड़े हैं। 'गृहीत' भले ही तुलसीदास के समय में 'ग्रह-ग्रहीत' रहा हो, पर अब तो वह 'गृहस्थ' है। 'संगृहीत' के 'गृह' पर 'ग्रह' की क्रूर दृष्टि है।

कुछ शब्दों के, ह्रस्व-दीर्घ स्वर के भेद से, दो-दो रूप होते हैं, हिंदी में ही नहीं संस्कृत में भी; जैसे, अवलि-अवली, उषा-ऊषा, उष्मा-ऊष्मा, प्रतिकार-प्रतीकार, प्रतिहार-प्रतीहार आदि। हिंदी के भी कुछ शब्दों के दुहरे रूप हो गए हैं। पहले 'ऊँचाई' ही थी, अब 'उँचाई' भी है। 'तबीयत' को 'तबियत', 'दूकान' को 'दुकान', 'कानपूर, फतेहपूर, गोरखपूर' आदि को 'कानपुर, फतहपुर, गोरखपुर' आदि हुए बहुत दिन नहीं बीते हैं। 'दूधिया' पूरब में 'दुधिया' होना चाहता है। कुछ वैयाकरण 'राजपूताना' को 'राजपुताना' बनाने पर तुले हैं। पश्चिम में खिंचा अर्थात् दीर्घ उच्चारण होता है, अतः उर्दू में उक्त शब्दों का रूप वैसा ही चलता है। हिंदी में बोलचाल की निकटता के कारण दूसरे प्रकार के रूप चल पड़े हैं।

विदेशी शब्द हिंदी में कैसे लिखे जायँ इसका झगड़ा बहुत दिनों से चल रहा है। अरबी-फारसी के शब्दों का उच्चारण हिंदी में ज्यों का त्यों नहीं होता। फिर भी उनके विदेशी उच्चारण को जो हिंदी में सुरक्षित रखने के पक्षपाती हैं वे लोगों को



मौलाना बनाना चाहते हैं क्या ? याद रखिए कि अनावश्यक लदाव बढ़ने से हिंदीवाले 'जनाब' को भी 'ज़नाब' बोलने लगेंगे और 'काग़ज़' को भी 'क़ाग़ज़' लिखने लगेंगे। अतः 'क़ ग़ ज़' आदि में नीचे बिंदी का लगाना न तो हिंदी की जीभ के अनुकूल है और न कान के, हाथ के अनुकूल चाहे हो। इस पर एक घटना याद आई। कोई मौलाना साहब मिर्जापुर स्टेशन पर डिब्बे में से खड़े खड़े बड़े जोर से 'क़ुली क़ुली' की आवाज लगा रहे थे। 'कुली' बेचारों की आँखें तो दूर से कुछ देख रही थीं, पर उनके कान साथ नहीं दे रहे थे। हिंदी के एक दिवंगत साहित्यज्ञ भी उसी डिब्बे में बैठे थे। मौलाना साहब की परेशानी देखकर उन्होंने उनसे कहा कि बड़ा काफ निकालकर पुकारिए तो आपका मतलब हल हो। किसी प्रकार जब उन्होंने बड़ा काफ छोटा किया तब कहीं सामान डिब्बे से बाहर निकलने की नौबत आई। तात्पर्य यह कि कोई भाषा अपनी परिचित ध्वनियों के ही शासन में विदेशी ध्वनियाँ रखती है। 'आहिस्तः', 'हमेशः' आदि में इसी से बहुत दिनों तक नकल नहीं चल सकी, इन्हें हिंदी का 'आकार' ग्रहण करके 'आहिस्ता' और 'हमेशा' होना ही पड़ा। कई शब्दों के दुहरे रूपों का कारण है शुद्ध व्यंजन और अकारयुक्त व्यंजन का ग्रहण। हिंदी में 'अ' का विशिष्ट उच्चारण होता है। स्वराघात के कारण केवल व्यंजन या अकारांत व्यंजन में कोई भेद नहीं रह जाता। ऐसे शब्दों के दोनों ही रूप चल तो सकते हैं, पर हिंदी की प्रवृत्ति अकार की ओर ही अधिक है। पुराने 'सर्दार' फैलकर 'सरदार' हो गए, 'दर्बार' भी बढ़कर 'दरबार' हुआ। पर अभी इनकी दशा पर 'बिल्कुल' ने 'बिलकुल' विचार नहीं किया है।

अँगरेजी से आए शब्दों में पहले तो 'स्' 'ट' की संधि संस्कृत के मन से हुई; जैसे, रजिष्ट्री, रजिष्टर, रजिष्ट्रार, मजिष्ट्रेट, माष्टर आदि में। पर हिंदी में मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण ही नहीं है, इन अँगरेजी शब्दों में भी मूलतः मूर्धन्य उच्चारण नहीं था, अतः ये सब अब दंत्य 'स' से लिखे जाते हैं। अँगरेजी 'ओ' की लघु ध्वनि को हिंदी में 'ॉ' से व्यक्त करने का विधान किया गया है, यद्यपि बोलचाल में वह भी 'आ' ही रह जाती है। पश्चिम में 'कालिज' बोला जाता है, पर अधिकतर लेखक 'कॉलेज' या कोई कोई तो दो सींग लगाकर 'कौलेज' लिखते हैं। यदि ऐसे शब्द हिंदी के हो गए हैं तो इन्हें हिंदी का आकार ही ग्रहण करना चाहिए। 'फॉर्म' बहुत दिनों से 'फार्म' हो गया है, छापेखानों में तो वह 'फर्मा' तक जा पहुँचा। पर 'अँगरेजीदाँ' या 'अँगरेजिहा' लोगों की बदौलत बहुत से चलते शब्दों को 'सुर्खाब का पर' लगा ही हुआ है। 'कॉलेज' तक कोई बात नहीं, पढ़े-लिखों की बोलचाल को वह प्रकट करता है, पर 'कौलेज' तो किसी काम का नहीं।

विदेशी शब्दों के लिखने में 'ऋ' (ृ) का व्यवहार व्यर्थ है क्योंकि हिंदी में इसका उच्चारण 'रि' है। लिखा तो जाता है 'अमृत' किंतु प्रायः बोला या पढ़ा जाता है 'अंमृत'। लिखेंगे 'पितृ' पर उच्चारण करेंगे 'पित्तृ'। कारण यही है कि 'ऋ' से 'रि' हो जाती है अर्थात् ये शब्द 'अम्रित' और 'पित्रि' समझे जाते हैं। संस्कृत से आए शब्दों में तो एकता और परंपरा के विचार से उक्त रूपों का बना रहना ठीक है, पर विदेशी शब्दों में वैसा क्यों हो ? 'ब्रिटेन' न लिखकर 'बृटेन' लिखने की क्या आवश्यकता है ?

'न्' भी हिंदी के चलन के अनुसार नहीं लिखा जाता।

'सुपरिंटेंडेंट' न लिखकर 'सुपरिन्टेन्डेन्ट' लिखना भद्दा है, 'सुपरिण्टेण्डेण्ट' को पंडिताऊ ढंग समझिए। जब 'पन्डित' लिखने का चलन नहीं तो निष्कारण 'सुपरिन्टेन्डेन्ट' क्यों लिखें ? हर्ष है कि धीरे धीरे यह पद्धति आप से आप उठती जाती है। अरबी फारसी के शब्दों से तो यह शैली बहुत कुछ हट गई है। 'मुन्शी' या 'मन्शा' लिखनेवाला अब कदाचित् ही कोई मिले, पहले कई थे। 'म्' को 'न्' के ढर्रे से बिंदी द्वारा सर्वत्र नहीं लिख सकते। 'य' के पूर्व 'म्' के बदले अनुस्वार लगाने से ध्वनि में भेद हो जायगा। 'ण्' 'न्' 'म्' के पीछे उसकी जैसी ध्वनि होती है पूर्वस्थित अनुस्वार के साथ उससे एकदम पृथक्। 'पुण्य' को 'पुंय' 'कन्या' को 'कंया' और 'क्षम्य' को 'क्षंय' लिख दें तो इन्हें 'पुञ्ञ' या 'पुञ्य', 'कञ्ञा' या 'कञ्या' और 'क्षञ्ञ' या 'क्षञ्य' सा पढ़ना पड़ेगा। अतः विदेशी 'कम्युनिक' को 'कंयुनिक' नहीं लिख सकते। जहाँ शुद्ध 'म्' उच्चारण हो वहाँ अनुस्वार की विंदी नहीं लग सकती, क्योंकि हिंदी में उसका उच्चारण 'न्' होगा। 'मम्स' (गलसुआ का रोग) को 'मंस' लिखने से 'मन्स' पढ़ना पड़ेगा। अरबी 'शम्स' (सूर्य) को 'शंस' लिखकर 'शन्स' बोलना होगा। जहाँ दुहरा 'म्' आता है वहाँ विंदी लगाकर भी लिख सकते हैं—हम्मीर या हंमीर, पर प्रचलन दुहरे 'म्' का ही है; जैसे, संमति, संमान आदि लिख सकते हैं, पर लिखते नहीं। अतः 'मुहम्मद' को 'मुहंमद' तो लिख सकते हैं, पर लिखते नहीं।

कुछ विदेशी नामों के उच्चारण-भेद के कारण कई रूप चलते हैं। सबसे अधिक दुर्दशा 'यूरोप' की हुई है। हिंदी लेखकों के चक्कर में पड़कर योरप, यूरप, युरोप, योरोप, यूरुप, योरुप, योरूप, आदि उसको अनेक रूप धारण करने पड़े। अमेरिका और अम-

रीका दो ही रूप हुए तो अफ्रिका, अफ्रीका, अफरीका ये तीन। इनमें से ग्राह्य रूप के लिए विदेशी ध्वनि की निकटता का ही विचार सब कुछ नहीं हो सकता। जिस रूप के लेने से अन्य रूप चलाए जा सकें वही अनुकूल होगा। हिंदी में पहले 'अमरीका' चलता था, उर्दू में अब भी चलता है, पर इधर बहुत दिनों से वही 'अमेरिका' हो गया। विदेशी उच्चारण की निकटता ही इसका कारण नहीं, इस नाम से बने विदेशी विशेषण की निकटता भी इसका हेतु है। 'अमेरिकन' शब्द लाने के सुभीते ने भी ऐसा कराया है। उर्दूवाले 'अमरीकी' लिखते हैं, पर हिंदीवालों के लिए 'अमेरिकी' चौंकानेवाला होगा। विदेशी 'अन्' प्रत्यय की दासता खटकने योग्य है। लोग 'इटली' से 'इटाली' लिखना छोड़ बैठे, 'इटैलियन' चल पड़ा। भाषासंबंधी यह दासता दूसरी किसी दासता से भयंकर है। कोई विदेशी नाम लेकर और उसमें अपने प्रत्यय लगाकर विशेषण आदि बनाने की जब तक स्वतंत्रता न स्वीकृत होगी तब तक भाषा विदेशी प्रत्ययों की अनावश्यक बेड़ी से जकड़ती ही जायगी। हिंदी को दासता की यह बेड़ी पहनानेवाले समाचार-पत्र और मासिक-पत्र हैं, जो शीघ्र से शीघ्र अँगरेजी का अनुवाद करके काम चलता कर देते हैं। इन्हीं के बुलाने से विदेशी प्रत्यययुक्त विशेषण एक पर एक चले आ रहे हैं, ब्रिटिश के बाद फिनिश, पोलिश, स्वीडिश, स्काचिश आदि चुपचाप चले आए। 'अन' और 'इश' के साथ 'इक' तो आया ही, 'टिक' भी 'टिकटिक' करता आ पहुँचा। गाथिक, बोलशेविक, एशियाटिक यहाँ तक कि बलियाटिक भी लिखने लगे। 'फिनिश' के बदले 'फिनी' क्यों न लिखा जाय? 'एशियाटिक' को एशियाई' बनाए रखने में क्या हानि है? विदेशी प्रत्ययों को तो एक ओर जिला रहे हैं, दूसरी ओर देशी प्रत्ययों को मार रहे हैं।

इधर 'वाला' का ऐसा बोलवाला हुआ कि न जाने उसके कितने भाई मारे गए। स्थानवाचक 'इया' कहाँ दिखाई देता है? कनपुरिया, कलकतिया, मथुरिया कौन लिखता है? कानपुरवाले, कलकत्तेवाले, मथुरावाले ही सामने आते हैं, पंडिताऊ ढंग से 'वासी' को चिपकाकर बने कानपुरवासी, कलकत्तावासी, मथुरावासी भी दिखाई दे जाते हैं। 'वाला' और 'वासी' के बड़ेपन से घबराकर कदाचित् कुछ छोटे सीधे-सादे विदेशी प्रत्ययुक्त विशेषण रख दिए जाते हैं। अगर और कोई रास्ता नहीं है तो 'छुटाई' को छोड़कर 'बड़ाई' की ओर जाने में क्या बुराई है? अतिप्रसंग हो गया! 'लिपि' की सीमा पार करके 'व्याकरण' के घर में घुसना पड़ा!

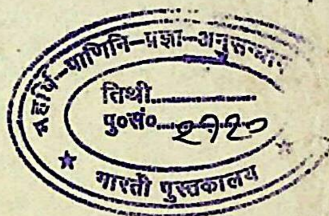
अव्ययों में जहाँ दो शब्द आते हैं वहाँ प्रश्न होता है कि उन्हें सटाकर लिखा जाय या हटाकर। हिंदी में दोनों पद्धतियों से लिखनेवाले हैं। कोई 'इसलिए' लिखता है तो कोई 'इस लिए' कोई 'इसीलिए' लिखता है तो कोई 'इसी लिए'। हिंदी में पहले, संस्कृत का 'अतः + एव' अलग अलग 'अत एव' लिखा जाता था, पर अब 'अतएव' मिलाकर ही लिखा जाता है। वस्तुतः अव्यय में शब्दों को पृथक् लिखने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अव्यय तो बना बनाया एक ही शब्द होता है। संस्कृत में 'न हि' को 'नहि' रूप में भी मिलाकर लिखते ही हैं, जिसका बेटा 'नही' हिंदी में न जाने कब से भेदभाव छोड़ बैठा है।

वाक्य में कुछ प्रत्यय ऐसे भी होते हैं जो संबंध तो कई शब्दों से रखते हैं, पर आते हैं एक ही बार। ये जब एक ही शब्द के साथ आते हैं तब इन्हें मिलाकर लिखने की परिपाटी है, पर वाक्य में कई के साथ जुड़नेवाले होकर भी प्रायः अंतिम शब्द के साथ जोड़कर लिखे जाते हैं, पृथक् नहीं; जैसे

'वाला' प्रत्यय को लीजिए। 'गाड़ीवाला', 'बैलवाला' आदि मिले हैं। 'ईंट, पत्थर, लकड़ी और चूनेवालों को बुलाइए' में 'वालों' का संबंध सभी से है। 'चूनेवालों' में इसका जुड़ा होना ठीक नहीं, पर यह बहुधा जुड़ा रहता है। ऐसे अवसरों पर पृथक् लिखना ही अच्छा और ठीक जान पड़ता है। हिंदी की प्रवृत्ति व्यवहिति की ओर है इसका यह भी प्रमाण है।

यह सब कहने का तात्पर्य इतना ही है कि हिंदी लिखने-पढ़नेवालों को इसे लिखने-पढ़ने की भाषा समझकर ही लिखना-पढ़ना चाहिए। साथ ही लिखते-पढ़ते समय सदा यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हिंदी 'हिंदी' है; न संस्कृत, न अरबी, न फारसी और न अँगरेजी। उर्दूवालों की नकल भी इसके लिए ठीक नहीं, जो धर्मशाला, दुविधा आदि को हिंदी की प्रवृत्ति के विरुद्ध पुंलिंग में ही लिखते हैं। फिर भी अंत में इतना कह देना आवश्यक है कि हिंदी का संस्कृत की ओर झुकना स्वाभाविक ही नहीं आवश्यक भी है। प्रांतीय भाषाएँ जब संस्कृत की ओर जा रही हैं तो 'हिंदी' को उसकी ओर बढ़ना ही चाहिए, भले ही संबंध का अतिरेक वांछनीय न हो, पर उससे 'संबंध' ही नहीं 'सुसंबंध' बनाए रखना अनिवार्य है।

———


तिथी
पु०सं०
भारती पुस्तकालय

जाते हैं [illegible]

उनमें सुखदुख की भावना होती है उससे [illegible]

'वाला' के सम्यक् पक्षपात से विमुक्त रहता है।
है। से सर्वोत्तम देव हो है वह [illegible]
देश एवं समाज सब काल में उन सबके
के वस्तु होते हैं कवि किसी काल देश समाज
होने वाली घटना को लेकर सार्वभौम [illegible]
देता है। देश काल
लगने काल से अगोचर को भी दृष्टिगोचर करदेता है।
[illegible] एवं व्यक्ति को